हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

भाषाविज्ञान-विषयक विशिष्ट अंक

भाग ४६ जनवरी-जून

अङ्क १-२ सन् १९८५ ई०

प्रधान सम्पादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

सम्पादक

डॉ० जगदीश गुप्त

सहायक सम्पादक

डॉ० रामजी पाण्डेय

मूल्य १० रुपये [वार्षिक २० रुपये

अनुक्रमणिका

हिन्दी भाषा का सामाजिक परिप्रेक्ष्य

श्री शमशेर अहमद खान

भाषा की परिभाषा देते समय भाषाविद् कभी भाषा और समाज को एक-दूसरे से अलग मानकर नहीं चलता। भाषा एक ऐसी व्यवस्था है जो समाज के वर्गों को आपस में विचार-विनिमय के लिए व्यक्ति अपनी वाणी को संकेत के रूप में स्वेच्छा से व्यक्त करता है।[1] भाषा का सम्बन्ध केवल समाज के साथ मिलकर समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि समाज की समस्त गतिविधियाँ जो व्यक्ति-समूहों द्वारा सृजित होती हैं और जिनकी अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। इस प्रकार भाषा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृति से हो जाता है।[2] भाषा की चरम परिणति किसी समुदाय या समाज को संस्कृति की अभिव्यक्ति मात्र से मानी जाती है। संस्कृति की अभिव्यक्ति वाक्-व्यवहार द्वारा एक संयोजनशील क्रिया के माध्यम से होती है और जब भाषा संस्कृति के चरम तक पहुँच जाती है, तब भाषा समाज-संस्कृति में मिल जाती है। भाषा का कार्य एक संवर्ध-शील स्थिति के बाद तक रहना, बनना और नई स्थिति में उत्पन्न होना होता है। यह भाषिक परिवर्तन एक सुव्यवस्थित रूपान्तर के रूप में एक बोली-समुदाय द्वारा होता है।[3]

हिन्दी के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी का भी एक सांस्कृतिक स्वरूप है जो आज एक राष्ट्रभाषा के रूप में लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होती है। राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत हिन्दी सम्पर्कभाषा हिन्दी (हिन्दुस्तानी) के रूप से भिन्न है। यद्यपि राष्ट्रभाषा हिन्दी और सम्पर्कभाषा हिन्दी (हिन्दु-स्तानी) दोनों के भाषावैज्ञानिक लक्षण लगभग एक ही हैं, किन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी का आदर्श समाज-संस्कृतियुक्त साहित्यिक भाषा है। इस प्रकार की भाषा को समाज-भाषाविज्ञान के अन्तर्गत सागरूपीय भाषा का एक रूप माना जाता है।[4] भारत में क्षेत्रीय आधार पर भाषाओं का एक सांस्कृतिक स्वरूप है और उसका विकसित साहित्य भी उपलब्ध है।

हिन्दी की भाँति एक अन्य भाषा उर्दू भी है जो बोलने में हिन्दी-जैसी लगने के कारण दोनों में भेद करना आसान नहीं है। यद्यपि हिन्दी तथा उर्दू दोनों के भाषावैज्ञानिक लक्षण भिन्न हैं, किन्तु दोनों में कुछ साम्य भी है। उर्दू में कुछ विशेष ध्वनियाँ अर्थात् स्वनिम हैं। आज उर्दू की ध्वनियों (स्वनिमों) का हिन्दीकरण हो गया है, किन्तु फिर भी उच्चारण-स्थान की दृष्टि से काफी अन्तर पाया जाता है। हिन्दी और उर्दू का व्याकरण लगभग समान है। उर्दू आज बोलने के स्तर पर मृतप्राय है, क्योंकि उर्दू को हिन्दी के अन्तर्गत मान लिया जाता है। किन्तु उर्दू का एक विकसित साहित्य उपलब्ध है।

हिन्दी-उर्दू का एक अन्तर यह है कि जहाँ समाज-भाषाविज्ञान की दृष्टि से आदर्श हिन्दी को व्यवहार में लाने वाले वक्ता (स्पीकर) उतनी संख्या में नहीं हैं जितनी संख्या में संपर्क हिन्दी हिन्दुस्तानी को व्यवहार में लाने वाले वक्ता हैं यहीं पर उर्दू की स्थिति

हिन्दी से भिन्न है। आदर्श उर्दू या साहित्यिक उर्दू को ही बड़ी संख्या में इनके वक्ताओं द्वारा व्यवहार में लाया जाता है। यद्यपि स्थान एवं क्षेत्र के अनुसार उर्दू की ध्वनियों में थोड़ा-बहुत अन्तर आ जाता है और कहीं-कहीं लहजे में थोड़ा-बहुत अन्तर आ जाता है, लेकिन मूलतः वाक्य-विज्ञान (सिन्टैक्स), शब्दार्थविज्ञान (सीमैन्टिक्स), शब्दविज्ञान (लेक्सिकल), व्याकरण (ग्रामर) में कोई अन्तर नहीं आता, जैसे—हैदराबादी उर्दू, दिल्लीवी उर्दू, लखनउवी उर्दू, आदि। किन्तु हिन्दी की क्षेत्रीय बोलियों, जैसे—भोजपुरी, अवधी, ब्रज, कन्नौजी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी आदि की भाँति उर्दू की क्षेत्रीय बोलियाँ विकसित नहीं हुई है। किन्तु हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत जहाँ मुस्लिम बहुसंख्यक में रहते हैं, वहाँ सामाजिक स्तर पर उर्दू की बोलियाँ विकसित हुई है[४] और कहीं-कहीं हिन्दी बोलियों का प्रभाव उर्दू बोलियो पर आ गया है। इस प्रकार उर्दू की क्षेत्रीय बोलियाँ हिन्दी बोलियों के अन्तर्गत मान ली जाती हैं।

भाषा की सांगरूपता के कारण एक ही समाज या विभिन्न समाज के अन्तर्गत व्यवहार में आने वाली भाषा में विशेष अन्तर नहीं होता।[५] हिन्दी का राष्ट्रव्यापी स्वरूप जो सामने उभर कर आया है, वह डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के शब्दों में हिन्दुस्तानी है जिसे भारत में हर स्थान पर अधिकांश लोगों द्वारा समझा एवं बोला जाता है।

समाज-भाषाविज्ञान के अन्तर्गत एक ही भाषा के अनेक रूप होते है।[७] हिन्दी के सामाजिक संदर्भ में हिन्दी के विविध रूप जाति, धर्म, अर्थ, शिक्षा आदि के आधार पर पाये जाते हैं। भाषा की यह स्थिति समाज-भाषाविज्ञान के अन्तर्गत मानी जाती है।[८] भाषाविदों ने तो यहाँ तक कहा है कि बिना भाषा की सामाजिक बोलियों के किसी भी समुदाय या वर्ग का जन्म हो ही नहीं सकता।[९] हिन्दी का राष्ट्रव्यापी रूप सम्पर्कभाषा हिन्दी माना जाता है। सम्पर्कभाषा हिन्दी आदर्श (साहित्यिक) हिन्दी का एक सामान्य रूप है जिसे स्थानीय आधार पर हिन्दी की बोलियों के वक्ता तथा अन्य भाषाभाषी सभी लोगो ने मिलकर स्वीकार किया है। सामान्य हिन्दी (सम्पर्क-भाषा हिन्दी) की ध्वनियाँ अभी निश्चित नहीं की जा सकी है, क्योंकि विभिन्न भाषा-परिवारों एव बोलियों से यह कितनी मात्रा में अपने अन्दर समाहित कर सकेगी, बाद में आदर्श रूप स्थापित होने पर ही पता चल सकेगा।

भारत में भले ही क्षेत्रीयता के आधार पर विभिन्न भाषाभाषी लोग हों और उनकी भाषा का स्थानीय स्तर पर एक सांस्कृतिक स्वरूप स्पष्ट हो, लेकिन जब वे व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत एक मच पर एकत्र होते हैं, तब उनकी भाषा का रूप विषमांगीय (हेट्रोजिनस) न होकर सांगरूपीय (होमोजिनस) हो जाता है और तब राष्ट्रभाषा के स्वरूप में क्षेत्रीय ध्वन्यात्मकता का अन्तर तो परिलक्षित होता है, किन्तु व्यवहृत भाषा विशुद्ध रूप से सांग-रूपीय सम्पर्कभाषा हिन्दी होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामान्य हिन्दी पर भारत की सभी भाषाओं एव भाषा-परिवारों तथा बोलियों का प्रभाव पड़ा है जो हर क्षेत्र के वक्ता के प्रभाव के कारण हुआ है। आज सामान्य लोगों को सामान्य हिन्दी ही मान्य है। आदर्श हिन्दी केवल एक विशेष वर्ग तक ही सीमित है।

संदर्भ-संकेत

१. ब्लॉच. बी० एण्ड ट्रेजर. जी० एच० (१९७२): "आउटलाइन्स ऑव लिंग्विस्टिक एनालिसिस ओरियन्टल बुक्स रिप्रिंट कार्पो० नई दिल्ली पृ० ५ और बीमनहान एल० एफ०

एण्ड स्पेंसर, जे० डब्ल्यू० (१९६२), "लैंग्वेज एण्ड सोसायटी", इबादान यूनिवर्सिटी प्रेस, नाइजीरिया, पृ० १।
२. वही, पृ० ५, और लैण्डर हरबर्ट (१९६६) : "लैंग्वेज एण्ड कल्चर", न्यूयार्क, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ० १३० और वही पृ० ५, १० एवं १२।
३. "इंडियन लिंग्विस्टिक्स", खण्ड ३८, सं० १, १९७७, डेकन कालिज, पूना, पृ० ४४।
४ फर्गुसन, सी० ए० एण्ड गुम्पर्ज, जे० जे० (सं०) : "लिंग्विस्टिक डाइवर्सिटी इन साउथ एशिया" इन "इंटरनेशनल जर्नल ऑव अमेरिकन लिंग्विस्टिक्स", भाग ३, खण्ड २६, सं० ३, जुलाई, १९६०, पृ० १।
५ देखिये—नारंग, जी० सी० (१९६१) : "करखनदारी डाइलेक्ट ऑव डेल्ही उर्दू", मुन्शीराम मनोहर लाल, दिल्ली।
६ "हिन्दुस्तानी"—अंक ३-४, १९७७, "हिन्दुस्तानी एकेडमी", इलाहाबाद, पृ० ७९।
७. फिशमैन, जे० ए० (सं०) : "एडवास इन सोशियालोजी ऑव लैंग्वेज", भाग १, माउटन द हाग, पेरिस, १९७६, पृ० ६३।
८. ब्राइट, डब्ल्यू० (सं०) : "सोशियोलिंग्विस्टिक", माउटन द हाग, पेरिस, १९७५।
९. वही, पृ० ७३।

एच० नं० ३८, रामन्ना बिल्डिंग,
गुप्पन पाइला, बन्नर घाट रोड,
बंगलौर-५६००८१

आर्य-द्रविड़ परिवार की भाषाओं में समानता के तत्त्व

□

डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल

१.० किन्ही दो भाषाओं अथवा दो परिवार की भाषाओं में उपलब्ध समानता के तत्त्वो के परिज्ञान का प्रमुख आधार है—तत्तद भाषाओं में प्राप्त परस्पर व्याकरणिक रूपों की समानता। इसके अतिरिक्त अन्य परिधीय आधार हैं—लिपिगत और शब्दगत समानता। यहाँ उपरिलिखित सभी तत्त्वो के आधार पर आर्य-द्रविड़ परिवार की भाषाओं में प्राप्त समानता के तत्त्वों का विश्लेषण किया जा रहा है।

१.१ **व्याकरणिक समानता के तत्त्व**—दोनों समूह की भाषाओं के वाग्भागीय सन्दर्भों को देखने से ज्ञात होता है कि दोनों परिवार की भाषाओं में 'क्रिया' शब्द का उपयोग संज्ञा के लिए कभी नहीं होता। संस्कृत को छोड़कर शेष सभी आर्य परिवार तथा द्रविड़ परिवार की भाषाओं में एकवचन और बहुवचन का ही व्यवहार होता है, दो वचन का नही।

अन्य द्रविड़ भाषाओं की अपेक्षा तमिल भाषा का गठन पर्याप्त भिन्न है। फिर भी समानता के कुछ तथ्य मिलते हैं। आर्यभाषा परिवार को हिन्दी आदि भाषाओं में प्राप्त दो लिंग की तरह तमिल में उनकी समस्थानीय दो संज्ञायें मिलती है: 'उयूरतिणे' (उच्चजातीय) और निम्न-जातीय। मनुष्य तथा देवता उच्च जातीय है, तो अन्य सभी सजीव तथा निर्जीव नीच जाति है। इनके लिए पृथक्-पृथक् नियम हैं। पशु-पक्षी आदि के पहले स्त्रीवाचक या पुरुषवाचक शब्द जोड़कर स्त्रीत्व का बोध कराया जाता है। जैसे—

आण	नाय्	कुत्ता
पैंण	नाय्	कुतिया

इसी प्रकार से बहुवचन के लिए मनुष्य और देवतावाचक शब्दों के लिए अर, आर, मार बहुवचन प्रत्यय है, जबकि निर्जीव शब्दों के लिए 'क' है। पर इसका प्रयोग सामान्य हो गया है।[1]

"कारको में कर्ता के लिए कोई चिह्न नही है, कर्म के लिए 'एकु', करण के लिए 'इत्य', सम्प्रदान के लिए 'कक्काग', अपादान के लिए 'इरुन्दु' और अधिकरण के लिए 'इल' प्रत्यय है। सम्बन्ध के लिए 'वकु' है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।"[2] स्पष्ट है कि व्याकरणिक रूपो साम्य भले न हो, किन्तु व्यवस्थागत प्रक्रिया मे समानता तो है ही।

आ० भा० परिवार के भाषाओं की तरह तेलुगु में दो वचन होते हैं—एकवचन तथा बहुवचन। लिंग संस्कृत की तरह तीन होते हैं और सर्वनामों की में साम्य है

आ० भा० परिवार की भाषाओं में मलयालम मे कारक-व्यवस्था की समानता है। संस्कृति की तरह लिंग तीन होते हैं।[३] डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"भारतीय आर्य और द्रविड़ परिवारों की कुछ व्याकरणगत विशेषताएँ समान हैं जो उनके दीर्घकालीन सम्पर्क की साक्षी हैं। भारतीय आर्यभाषाओं की तरह द्रविड़ भाषाओं मे सम्बन्धसूचक चिह्न शब्द के बाद में आता है, पहले नही। राम का—यह क्रम होगा, अंव राम—यह क्रम नही।"[४]

हिन्दी और द्रविड़ भाषाओ के सन्दर्भ में डॉ० अर्जुनन वेल्याणि ने लिखा है, "एकवचन में 'इ' परप्रत्यय हिन्दी और चारों द्रविड भाषाओं में समान है। इससे निर्मित सभी भाषाओं के उदाहरण इस प्रकार हैं—हिन्दी—पुत्री, तमिल—पुत्तिरी, मलयालम—पुत्रि, तेलुगु—पुत्रि, कन्नड—पुत्रि। इसी प्रकार से हिन्दी—सखी, तमिल—सकि, मलयालम—सखि, तेलुगु—सखि, कन्नड़—सखि"।[५]

स्पष्ट है कि व्याकरणिक स्तर पर दोनों समूह की भाषाओं में असमानता होते हुए भी समानता के बहुत से महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी हैं।

१.२ लिपिगत समानता के तत्त्व—जहाँ तक लिपि का प्रश्न है, सारी भारतीय लिपियों का मूल स्रोत ब्राह्मी है, अतः दोनो परिवार की भाषाओं को परस्पर एक-दूसरे की लिपियों मे लिप्यन्तरित किया जा सकता है। लिप्यन्तरण की अधिक सुगमता देवनागरी में हो सकती है, क्योंकि इसमें ध्वनियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। यहाँ लिपि के स्तर पर समानता को स्पष्ट करने के लिए समस्त भारतीय भाषाओं को देवनागरी में लिप्यन्तरित करने हेतु एक तुलनात्मक सारिणी प्रस्तुत की जा रही है[६]—

द्रविड भाषाएँ	देवनागरी में लिप्यन्तरण हेतु अपेक्षित विकास का अनुक्रम
मलयालम	१. एं कें ओं कों र ट् २. ए ओ क् र ट्
तमिल	१. न ए ओ क २. ए ओ क् न
तेलुगु	ए ओ र च न ज
कन्नड़	१. एं ओ २. ए ओ

आर्य भाषाएँ

मराठी	स्वतः नागरी लिपि
हिन्दी	स्वतः नागरी लिपि
गुजराती	—
पंजाबी	—
बंगला	—
उड़िया	—
असमिया	
उर्दू	क़ ख़ ग़ ज़

कश्मारी च वग	च छ ज झ
सिंधी के अन्तःश्वसित व्यंजन	ग ज द ब

स्पष्ट है कि दोनों परिवार की भाषाओं मे कुछ भिन्न ध्वनियो के अतिरिक्त शेष ध्वनि-म्पों में समानता है।

१.३ **शब्दगत समानता के तत्त्व**—दोनों परिवार की भाषाओ में शब्द के स्तर पर बहुत समानता है। द्रविड़ परिवार की तीन भाषाओं—तमिल, कन्नड एव मलयालम के शब्द व्यंजनांत होते हैं और तेलुगु में स्वरात। इस प्रकार इनमे परस्पर भिन्नताएँ होते हुए भी बहुत साम्य है।

१.३.१ दोनों परिवार की भाषाओं मे ऐसे सहस्राधिक शब्द है जो अपनी भाषागत संरचना के कारण वर्तनी मे यत्किंचित् भिन्न होते हुए भी समान अर्थ का बोध कराते हैं। यहाँ ऐसे कुछ शब्दों को दिया जा रहा है—

जव—हिन्दी में जव, पंजाबी में जौ, उर्दू में जौ, कश्मीरी मे वुश्कू, सिन्धी मे जव, मराठी म जव, गुजराती मे जव, बंगला मे यब, असमिया में यधान, उड़िया में यव, तेलुगु मे यवलु, तमिल में वारकोदुमै, मलयालय में यवम्, कन्नड़ मे बार्लि, संस्कृत में यव रूप मे जव शब्द का प्रयोग होता है।

देश—हिन्दी में देश, पंजाबी मे देश, उर्दू मे वतन, कश्मीरी में मुलुख, सिन्धी में वतनु, मराठी में देश, गुजराती मे देश, बंगला में देश, असमिया में देश, उड़िया म देश, तेलुगु में देशम्, तमिल में नाडु, मलयालम मे देशम्, कन्नड़ में देश और संस्कृत में देश के रूप में प्रयुक्त होता है।

आत्मा—हिन्दी में आत्मा, पंजाबी मे आत्मा, उर्दू में रूह, कश्मीरी में आत्मा, सिंधी में आत्मा, मराठी मे आत्मा, गुजराती में आत्मा, बंगला मे आत्मा, असमिया में आत्मा, उड़िया म आत्मा, तेलुगु में आतम, तमिल में आत्मा, मलयालम में आत्मावु, कन्नड़ में आत्मा संस्कृत में आत्मन्।

आरती—हिन्दी में आरती, पंजाबी म अरती, उर्दू में आरती, काश्मीरी मे आरती, सिंधी, मराठी, गुजराती मे आरती, बँगला मे अरति, उड़िया में आरति, तेलुगु मे हारिति, तमिल म आरति, मलयालम मे दीपाराधन, कन्नड़ मे आरति, संस्कृत में आरति।

पाप—पंजाबी मे पाप, उर्दू में गुनाह, कश्मीरी मे पापु, सिंधी में पाप, मराठी, गुजराती, बँगला असमिया, उड़िया मे पाप, तेलुगु मे पापम्, तमिल में पापम्, मलयालम मे पापम्, कन्नड मे मे पाप, संस्कृत मे पाप।

पुण्य—हिन्दी मे पुण्य, पंजाबी में पुन, उर्दू मे सवाब, कश्मीरी मे पो, सिन्धी मे पु, मराठी, गुजराती, बँगला, असमिया, उड़िया मे पुण्य, तेलुगु में पुण्यम्, तमिल मे पुण्णियम्, मलयालम मे पुण्यम्, कन्नड़ मे पुण्य, संस्कृत मे पुण्य।

पूजा—हिन्दी में पूजा, पंजाबी मे पूजा, उर्दू में इबादत, कश्मीरी मे पूजा, सिंधी में पूजा, मराठी, गुजराती, बँगला, असमिया एवं उड़िया में पूजा, तेलुगु में पूज, तमिल मे पूजै, मलयालम में पूज, कन्नड़ म पूजे, संस्कृत में पूजा।

तुलसी—हिन्दी में तुलसी, पंजाबी में तुलसी, उर्दू में तुलसी, कश्मीरी मे बबूर, सिन्धी में तुलसी, मराठी, गुजराती, बँगला मे तुलसी, असमिया में तुलसी, उड़िया मे तुलसी, तेलुगु मे तुलसि तमिल म तुलसि मलयालय म तुलसि कन्नड म तुलसि संस्कृत म तुलसी

देवदार—हिन्दी में देवदार, पंजाबी एवं उर्दू में देवदार, कश्मीरी में दिवदार, सिंधी में दयालजोवणु, मराठी, गुजराती में देवदार, बंगला में देवदारु, असमिया में देवदारु, उड़िया में देवदारू, तेलुगु में देवदारू, तमिल में देवदारम्, मलयालम में देवदारम्, कन्नड़ में देवदारु, संस्कृत में देवदार।

नदी—हिन्दी में नदी, पंजाबी में दरिया, उर्दू में दरिया, कश्मीरी में दरियाव्, सिंधी, मराठी एवं गुजराती में नदी, बंगला में नदी एवं नोदी, असमिया में नदी एवं नोदी, तेलुगु में नदि, तमिल में आरु, मलयालय में पु, कन्नड़ में नदि, संस्कृत में नदी।

आलाप—हिन्दी में आलाप, पंजाबी में आलाप, उर्दू में अलाप, कश्मीरी में आलव, सिन्धी में आलापु, मराठी, गुजराती, बंगला एवं असमिया में आलाप, उड़िया में आलाप, तेलुगु में आलापम्, तमिल में अलापम्, मलयालम में आलापम्, कन्नड़ में आलापने, संस्कृत में आलाप।

स्वर—हिन्दी में स्वर, पंजाबी में सुर, उर्दू में सुर, कश्मीरी में स्वर, सिन्धी में सुरू, मराठी में सुर, गुजराती में सुर, बंगला में सुर, असमिया में सुर, उड़िया में सुर, तेलुगु में स्वरम्, तमिल में स्वरम्, मलयालय में स्वरम्, कन्नड़ में स्वर, संस्कृत में स्वर।

वसंत—हिन्दी में बसन्त, पंजाबी में बसन्त, उर्दू में बहार, कश्मीरी में सोथ (बहार), सिन्धी में बहारू, मराठी में बसन्त, गुजराती, बंगला, असमिया एवं उड़िया में बसन्त, तेलुगु में वसन्तकालमु, तमिल में इ वेमिल, मलयालम में वसन्तम्, कन्नड़ में बसन्त, संस्कृत में वसन्त।

इसी प्रकार से हिन्दी एवं द्रविड़ भाषाओं में प्राप्त कुछ तत्सम शब्दावली यहाँ प्रस्तुत की जा रही है—

१.३.२ हिन्दी एवं द्रविड़ भाषाओं में प्राप्त समानार्थक तत्सम शब्दावली

१.३.२.१ धार्मिक शब्दावली

हिन्दी	तेलुगु	कन्नड	मलयालम	तमिल
ईद	ईदु	ईदु	ईदु	ईदु
कुरान्	कुरानु	खुरान	खुरान्	कुरान्
फकीर	फक्कीरु	फकीरु	पक्कीरु	पकीरू

१.३.२.२ सांस्कृतिक शब्दावली

सलाम	सालामु	सलामु	सलाम्	सलाम्
हज्	हज्जु	हज	हज्जु	कज्जु

१.३.२.३ फौजी शब्दावली

कमान्	कमानु	कमानु	कमानम्	कमानम्
सिपाही	सिपायि	सिपायि	शिपायि	चिपायि
हवलदार	हवलुदार	हवलदार	हवलदार	कवाल

१.३.२.४ आर्थिक शब्दावली

दीनार	दीनारम्	दीनार	दीनारम्	दीनारम्
बाकी	बाकी	बाकि	बाकिक	पाकिक

रुपया	रुपायु	रुपयु	रुपा	रुपाय
दमड़ी	दमिड	दमड्डि	तम्पिट	तपिट

१.३.२.५ कानून-सम्बन्धी शब्दावली

अमीन	अमीनु	अमीनु	आम्यन्	अमियन
कैदी	खैदी	कैदि	कैदि	कैति
दीवान	दीवानु	दिवाधु	दिवान्	तिवान्
बन्दोबस्त	वन्दोबस्तु	बन्दवस्तु	बन्तवस्तु	पन्तोएस्सु

१.३.२.६ व्यापार-सम्बन्धी शब्दावली

चिट्ठी	चीटि	चिटि	चिट्	चिरछ
सामान	सामानु	सामान	सामानम्	चामानम्

१.३.२.७ राजस्व विभाग की शब्दावली

आबकारी	आबुकारी	आब्रुकारी	आबकारि	अप्‌कारी
पंचायत	पचायिति	पंचायतु	पंचायतु	पंचायतु
तहसीलदार	तहसीलुदारू	तहसीलदार	तहशीलदार	तकचीलतार

१.३.२.८ शैक्षिक शब्दावली

हाजिर	हाजरू	हाजरू	हाजर	काचर
कागज	कागिदमु	कागद	कायितम	कायित
पुस्तक	पुस्तकम्	पुस्तक	पुस्तिकम्	पुस्तक

१.३.२ ९ नित्यप्रति व्यवहार में आने वाली शब्दावली

टोपी	टोपि	टोप्पि	तोप्पि	तोप्पि
पाजामा	पाजामा	पाजामा	पायिजाम	पैजाम
तोड़ा (गहना)	तोड़ा	तोडे	तोट	तोटे
खिचड़ी	किच्चडि	पच्चडि	किच्चाटि	किच्चटि
रोटी	रोट्टि	रोट्टि	रोट्टि	रोट्टि

१.४ हिन्दी और द्रविड़ भाषाओं की शब्दगत समानता के सन्दर्भ में डॉ० अर्जुनन वैल्य का मत समीचीन होगा—"तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलुगु में प्रयुक्त हिन्दी शब्दावली ध्वनि-प्रक्रिया में थोड़े-बहुत वैभिन्न्य होने पर भी एक मूलभूत एकता परिलक्षित होती है।"[७]

यद्यपि इस विषय से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण शोधकार्य अभी तक प्रकाश में आये फिर भी राष्ट्रीय अखण्डता और सांस्कृतिक मूल्यों के संवर्धन हेतु दोनों परिवार की भाषाओं प्राप्त समानता के तत्त्वों के सम्यक् परिज्ञान हेतु आज बृहद् स्तर पर शोधकार्य की आवश्यक है। आशा है, इस दिशा में शोधरत विद्वान् कार्य करके इसे सुसम्पन्न करेंगे।

संदर्भ-संकेत

१. डॉ० कैलाशचन्द भाटिया : भारतीय भाषाएँ, पृ० ५८। २. वही, पृ० ५८। ३. विस्तार के लि द्रष्टव्य वही पृ० १०५। ४ डॉ० रामविलास शर्मा आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों सम्बन्ध, पृ० ७२। ५ दक्षिण भारतीय भाषाओं पर द्रविड़ शब्दावली का

पृ० ९७५ (प्रकाशित शोध-प्रबन्ध) । ६. डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल : "नागरी लिपि : सम्पर्क लिपि के रूप में", नागरी संगम, त्रैमासिक पत्रिका, पृ० २८, २९, ३० । ७. दक्षिण भारतीय भाषाओं पर द्रविड़ शब्दावली का प्रभाव—भाग २, पृ० ९८३ ।

प्राध्यापक
हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर

हिंदी भाषा में अनेकार्थकता के कारण

□

डॉ० मीरा दीक्षित

आज तक के समस्त विकास के बाद भी, भाषा मानव-जीवन की विविधता तथा व्यापकता को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त नहीं कर सकती। यद्यपि भाषा के परिवर्तन तथा विकास के साथ भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता का दायरा बहुत विकसित हो रहा है; फिर भी यह अभिव्यक्ति एक सीमा में आबद्ध है। बहुत से कार्य-व्यापार भाषा की पकड़ के बाहर है। भावाभिव्यक्ति के लिए भटकता हुआ मानव कभी नये शब्दों का निर्माण भी करता है, परन्तु नये शब्द तो दस साल में एक आध ही बनते हैं। नये शब्द के ग्रहण करने में कठिनाइयाँ भी है। बहुधा पहले से विद्यमान प्रातिपादकों मे ही प्रत्यय और उपसर्ग जोड़कर नये शब्द बना दिये जाते हैं। मानव की सहज आकांक्षा कम परिश्रम से अधिक लाभ पाने की है, अतः वह अपने पास उपस्थित शब्द-भंडार से ही शब्द लेकर उन्हें विभिन्न अर्थ दिया करता है। इसी आशंका से अनेकार्थकता का जन्म होता है। जिस प्रकार भाषा में अनेक शब्द होना आवश्यक है, उसी प्रकार शब्द के अनेक अर्थ होना भी आवश्यक है। संसार की समृद्धतम भाषा मे भी अनन्त शब्द नहीं हो सकते। अनेकार्थकता किसी भी समृद्धतम भाषा की पहचान है।

कोश इस बात के प्रमाण है कि एक शब्द के जितने अर्थ होते है, वे सब प्रचलित नहीं होते। कोशकार नये, पुराने सभी अर्थों का संग्रह कर देता है। कुछ अर्थ पूर्णतः लुप्त हो जाते हैं और कुछ लुप्त होकर पुनरुज्जीवित हो जाते है। उदाहरणस्वरूप कोश में 'अर्क' के सत्रह अर्थ है। इनमे से चौदह तो निश्चय ही अप्रचलित है। किन्तु 'अच्छा' जैसे कई शब्द हैं जिनके सभी अर्थ प्रचलित हैं।

प्रायः व्यवहार में शब्दो तथा वाक्यों का भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयोग होता है। श्लेष, यमक तथा वक्रोक्ति अलकारों तथा लाक्षणिक और व्यंग्यार्थी वार्तालापों मे अनेकार्थकता की सृष्टि होती है। इन शब्दों तथा वाक्यों द्वारा क्षणिक मनोरंजन हो जाता है, किन्तु मनोरंजन अनेकार्थकता का कारण नहीं, कार्य है। यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि किन कारणों से शब्द अनेकार्थक हो जाते हैं।

शब्दों के अनेकार्थक होने का एक कारण शब्द का अधिक प्रचलित होना माना जाता है। जैसे : चाल—एक बहुत प्रचलित शब्द है और इसके इतने अर्थ हैं—चलने का तरीका, षड्यन्त्र, दाँव। यह नियम देखने मे ठीक जान पड़ता है, पर पहले अपवादस्वरूप जितने उदाहरण हैं, उतने पक्ष में नहीं है। मेज, आलमारी, दरवाजा, कुर्सी आदि अनेक शब्द बहुप्रचलित हैं, पर अनेकार्थक नहीं है। साधारणतः मूलभूत शब्द अनेकार्थक होते हैं।

प्रचलन के अतिरिक्त निम्नलिखित कारण गिनाये जा सकते है

(१) साम्य से विस्तार, (२) विकास का क्रम, (३) मनोवैज्ञानिक कारण, (४) सांस्कृतिक कारण, (५) सामाजिक कारण, (६) भाषावैज्ञानिक कारण, (७) संक्षेपाक्षर, (८) पारिभाषिकता, (९) लाक्षणिकता आदि।

(१) साम्य—मनुष्य अपने सम्पर्क में आने वाली वस्तु का पूर्वपरिचित वस्तु से साम्य ढूंढता है और इसी आधार पर नवीन वस्तु को प्राचीन नाम दे देता है। साम्य के उपादान रूप या आकार व्यापार तथा भाव हो सकते है, जैसे—

अद्धा —आधा सेर या किलो का बाट

— शराब की आधी बोतल

—आधा कटा हुआ कनस्तर

यह तीनों अर्थ एक ही शब्द मे गुणों की समानता के आधार पर प्राप्त हुए है। "अद्धा ले आओ।" इस वाक्य के तीनों अर्थ हो सकते हैं।

अड्डा—चोरों का, बुलबुल के बैठने का, जुलाहे का, बस का तथा हवाई अड्डा। इन सभी अर्थों में व्यवहार की समानता है। सब में इकट्ठे होने का अर्थ निहित है।

चक्र—पहिया, चक्र के आकार का अस्त्र (सुदर्शन चक्र), वायु का गोलाकार बवंडर (वातचक्र), सागर के भँवर (सागर में उठते विशाल चक्र), सेना की चक्राकार व्यूह-रचना (चक्रव्यूह), षड्यन्त्र (कैकेयी का कुचक्र), योगवर्णित देह के अन्दर आठ चक्र (अष्ट चक्र)। इन सभी अर्थों की कल्पना गोल आकार की समानता के आधार पर है।

गोली—बन्दूक की, दवा की, काँच की, धागे की। छोटी गोल वस्तु से रूप की समानता है। अनेक भाव एक ही शब्द द्वारा प्रकट होकर उसे अनेकार्थी बनाते हैं, जैसे 'वर'—अपने में निहित भावों के कारण अनेकार्थक हैं। वर-चुनाव करना (स्वयंवर), चुनाव सदा मुँहमाँगी वस्तु का किया जाता है। 'वर' का यह अर्थ वरदान या वर-याचना मे सुरक्षित है। मुँहमागी वस्तु दुर्लभ होती है, अत: 'वर' अर्थात् दूल्हा मे 'वर' शब्द का यही अर्थ है (दुर्लभ-दुल्लह-दूल्हा)। 'वर' शब्द के अनेक अर्थों का कारण भाव-साम्य है।

भाषा गणित के समान कठोर नियमो से बँधी नही है। कभी-कभी किसी शब्द को एक से अधिक विशेषताएँ अनेकार्थक बनाती हैं। जैसे—काल—समय, दुष्काल, अकाल, यम, मृत्यु। मृत्यु को जीवन का समय पूरा होना मानते हैं। मृत्यु के देवता को 'काल' कहना भाव-साम्य पर आधारित है। समय, दुष्काल और अकाल कार्य-व्यापार-साम्य है, क्योंकि सभी का अर्थ समय के आधार पर प्राप्त हुआ है। कई शब्द संख्या के आधार पर अनेक अर्थ प्रकट करते हैं, जैसे—इक्का—ताश मे एक बूटे के निशान वाला पत्ता, एक घोड़े से चलने वाली गाड़ी, झुंड से छूटा हुआ अकेला जानवर आदि।

(२) विकास—शब्द का सम्बन्ध जिस वस्तु से हो जाता है, उस वस्तु के विकास के साथ अर्थ मे भी परिवर्तन होता जाता है। ऐसी स्थिति मे नये-पुराने सभी अर्थ चलने लगते है। जैसे—पत् धातु से बने 'पत्र' शब्द का अर्थ है—गिरने वाला। पत्तों को पेड़ो से गिरते देख यह शब्द पत्ते के अर्थ में प्रचलित हुआ होगा। कालान्तर मे कुछ पत्तों पर लिखा जाने लगा (भोज-पत्र)। पत्रों पर लिखित सन्देश के आधार पर चिट्ठी को पत्र कहा जाने लगा। कागज पर पत्र लिखते-लिखते समाचार-पत्र का चलन हुआ। इस प्रकार पत्र के अर्थ हुए—पत्ता, चिट्ठी, कागज, समाचार-पत्र।

(३ मनोवैज्ञानिक कारण—बहुधा मनुष्य की कल्पनाशीलता और मनोभावों की तरग शब्दो को ऐसा अर्थ देती है जिसका कोई तर्कसगत कारण नहीं मिलता लाल शब्द सुर्ख रग एक

बहुमूल्य रत्न तथा पुल के लिए प्रयुक्त है। बहुमूल्य रत्न के समान ही बहुमूल्य पुल को मानने की भावना ने इस शब्द को बह्वर्थक बना दिया। कल्पनाशील कारण में मस्तिष्क का हाथ होता है।

उदाहरणार्थ—तड़का—अंधकार का आवरण फाड़ एकबारगी प्रभात होना। जैसे—पौ फटने में कुछ फटता नहीं है, पर एकबारगी प्रभात का स्फुटन हो तो होता है। दाल आदि छौंकते समय एकबारगी आवाज होती है, अतः छौंक लगाना भी तड़का लगाना कहलाया। गुरुदेव रवीन्द्र-नाथ ठाकुर ने इस विषय में 'शब्द-तत्त्व' नामक निबन्ध में विस्तृत चर्चा की है।

(४) **सांस्कृतिक कारण**—अनेक संस्कृतियों की मिलन-स्थली भारत ने अरबी, फारसी, पुर्तगाली, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं से शब्द ग्रहण किये हैं। कुछ लोग इन्हें उधार शब्द मानते है। पर ये उधार शब्द नही हैं क्योंकि अब इन्हें लौटाने का सवाल नहीं उठता। ये कभी हमारे अतिथि थे, अब परिवार के सदस्य हैं। जब विदेशी भाषा से प्राप्त शब्दों के अनेक अर्थ प्राप्त होते है, तो बहुधा इनका कारण ध्वनि-साम्य होता है। हिन्दी में इनके समध्वनिक शब्द पहले से मौजूद थे। कुछ तत्सम, कुछ तद्भव तथा देशज शब्द विदेशी शब्दों के समध्वनिक होते है। शिक्षित वर्ग तो प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग शुद्ध रूप में करता है। किन्तु विदेशी शब्दों में पाई जाने वाले नीचे नुक्ते या ऊपर ˘ से होने वाले उच्चारणों से अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित जनता उदासीन रहती है। जैसे जात (जाति), जात (जन्मा)। हिंदी के अनुरूप तकनीकी विकास के कारण उनके तत्सम शब्द पारिभाषिक रूप से तकनीकी क्षेत्र में प्रयुक्त हैं, व्यवहार, साहित्य तथा धर्म मे इनके भिन्न अर्थ हैं।

(५) **सामाजिक कारण**—समाज के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित व्यक्ति शब्द का प्रयोग अपने-अपने वर्ग के अनुसार करते हैं। यथा, गाँठ— कपड़े की गाँठ, गट्ठर (व्यापारी), धागे की गाँठ (सामान्य प्रयोग), माँस की गाँठ—गिल्टी (चिकित्साशास्त्र)।

किसी का रुतबा बढ़ाने के लिए किसी शब्द का प्रयोग—मास्टर (मालिक); पहले स्कूल मास्टर, फिर अपने विषय में पारंगत तथा अब नाई और दर्जी को कहते हैं।

संकेत-भाषा—गुप्तचर तथा अपराधी सामान्य शब्दों से संकेत ग्रहण कर अपनी एक अलग भाषा बना लेते हैं। इस तरह ऐसा सांकेतिक शब्द नया अर्थ जोड़ देता है। यथा—माल—धन, सामान, अवैध, वस्तु-विक्रय के योग्य लड़की। 'माल आ गया' इस वाक्य में 'माल' के सभी अर्थ हो सकते है।

(६) **भाषावैज्ञानिक कारण**—स्रोतों की भिन्नता होने पर भी भारतीय तथा भिन्न भाषाओं से प्राप्त शब्द ध्वनि, साम्य के आधार पर अनेकार्थक हो जाते हैं। तत्सम, तद्भव तथा देशी भारतीय स्रोत से आगत तथा अरबी, फारसी, अंग्रेजी तथा हिन्दी शब्द विदेशी और भारतीय स्रोत से आगत शब्द इस तरह के हो जाते हैं।

कफ़—शरीर की तीन धातुएँ हैं—वात, पित्त और कफ़। कमीज की बाँह में जहाँ बटन लगे, उस हिस्से को भी कफ़ कहते हैं। (अं०)

(७) **संक्षेपाक्षर**—प्रोफेसर और प्रोपाइटर का संक्षेपाक्षर एक ही है। (हिन्दी में)

(८) **पारिभाषिकता**—अरबी, फारसी, अंग्रेजी के कई शब्द शासन के कार्य में प्रयुक्त हुए। व्यवहार के भिन्न अर्थों के कारण इनके कई अर्थ हुए, जैसे—खसरा—जमीन का नक्शा और चेचक दोनों के लिए प्रयुक्त है।

(९) **लाक्षणिकता**—भाषा-विकास के प्रारम्भिक चरण में मूर्त होती है, विकास के साथ ही वह अमूर्त होती जाती है। जैसे—बैठना।

आदमी का बैठना मूर्त

आवाज बैठना (अमूर्त)

यौगिक शब्दों में समास व्यापक रूप से अनेकार्थक होते हैं। इनके अनेकार्थक होने के कारण इस प्रकार है—

(१) यह शब्द जिन शब्दों के सहयोग से बने हैं, उनमें से कोई एक अनेकार्थक हैं। जैसे—चतुर्भुज—विष्णु भगवान्, चार कोनों वाला।

(२) एक समास व्युत्पत्तिमूलक जातिवाचक संज्ञा और दूसरा व्यक्तिवाचक संज्ञा है। जैसे—गणपति—राष्ट्रपति, गणेश।

(३) समास का एक अर्थ व्युत्पत्तिमूलक और दूसरा विशिष्टीकरण द्वारा रूढ। जैसे—तिकोना—तीन कोने का, समोसा।

(४) समास का विग्रह दो प्रकार से होने पर। जैसे—गोधूलि—(गायों के चलने से उड़ने वाली धूल) (तत्पुरुष स०), जब गायों के घर लौटने पर धूल उड़ती है, ऐसा समय (शाम) बहुव्रीहि (समास)।

(५) सामासिक शब्द भिन्न क्षेत्रों में भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है। जैसे—नवरत्न—अकबर के दरबार के, नौ अपने क्षेत्र में प्रसिद्ध व्यक्ति, नौ प्रसिद्ध रत्नों का समूह।

एन० सी० २८,
भियानगर, फूलपुर,
इलाहाबाद-२१२४०४

शब्दपरक संप्रेषणीयता

[हिंदी के विशेष सन्दर्भ में]

□

डॉ० किशोरीलाल शर्मा

भाषा मूलतः एक सामाजिक प्रक्रिया है और मानव जन्मजात एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी सहज प्रकृति और बहुविध आवश्यकताओं के कारण समाज के विभिन्न वर्गों के सदस्यों के सम्पर्क में आता है। विज्ञान की निरन्तर प्रगति के साथ-साथ उसका व्यवहार-क्षेत्र व्यक्तिगत स्तर से बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक व्यापक हो गया है। इस विशाल मानव-समुदाय में पारस्परिक संपर्क स्थापित करने का एकमात्र सबल माध्यम भाषा है जो औपचारिक, अनौपचारिक, लिखित, मौखिक, मुद्रित, साइक्लोस्टाइल और टाइप आदि अनेक रूपों में व्यवहृत होती है। सम्प्रेषणीयता भाषा का सहज-धर्म और प्रमुख उद्देश्य है, उसके बिना भाषा का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। भाषा-संप्रेषण की एक 'जीवन्त प्रक्रिया' है जो वक्ता और श्रोता के बीच विविध सामाजिक परिस्थितियों में विचारों की अभिव्यक्ति के रूप में संचरित होती है। इसमें वक्ता और श्रोता की 'मनोवैज्ञानिक' क्रियाओं का योग रहता है। इस संचरण की इस प्रक्रिया को निम्नांकित आरेख द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
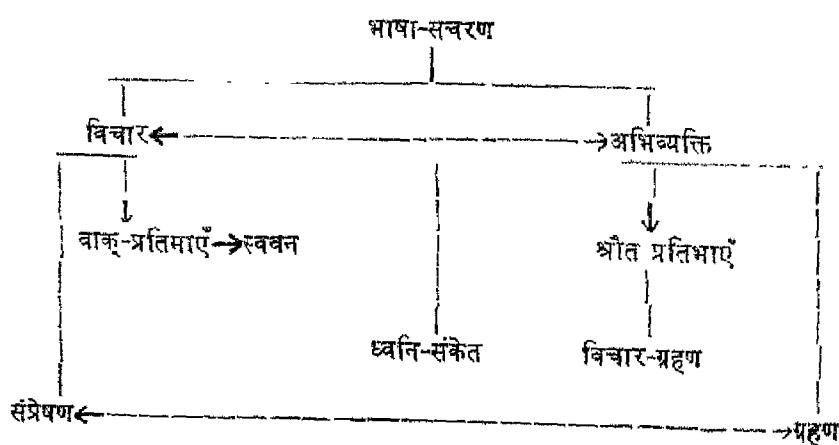
भाषाई संकेतों की व्यवस्था समाज द्वारा निर्धारित एवं स्वीकार होती है। भाषा के सार्थक संकेतों को रूपों, शब्दों, पदबन्धों और वाक्यों में ऐसे ढंग से सँजोया जाता है कि उनसे विचारों का संप्रेषण अथवा आदान-प्रदान सक्षम रूप से होता है।

शब्द वाक्य में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने वाली सार्थक इकाई है। हम अपने मनोगत भाव या विचारों का सम्प्रेषण वाक्यों के से करते हैं जिस प्रकार चिन्तन की न्यूनता

इकाई विचार हैं, उसी प्रकार अभिव्यक्ति की सबसे छोटी इकाई वाक्य है। वाक्यों का गठन शब्दों से होता है और उनमें शब्दों का नियोजन एक निश्चित क्रम तथा व्यवस्था मे होता है। अर्थ की दृष्टि से शब्दों के तीन प्रमुख प्रकार हैं—कोशीय, व्याकरणिक और शैलीगत। कोशीय शब्दों से मुख्यार्थ की प्रतीति होती है। व्याकरणिक शब्दों का अपने में तो कोई विशेष अर्थ नही होता, परन्तु अन्य शब्दों के साथ प्रयोग की अनिवार्यता के कारण वे सार्थक हैं। शैली की दृष्टि से शब्दों को समाज द्वारा स्वीकृत एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इनका पृथक्-पृथक् विवेचन यथास्थान किया जायेगा। वाक्यों मे शब्दों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। (का० प्र०, पृ० २०७)। न्यायदर्शन के अनुसार शब्द को प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों में से सीखने का एक सक्षम प्रमाण माना गया है। चराचर जगत् के समस्त पदार्थों, घटनाओं, दृश्य प्राणियों, क्रियाओं और उनके सभी प्रकार के सम्बन्धों का बोध शब्द-प्रतीकों के माध्यम से होता है। एक शब्द किसी एक ही प्राणी, पदार्थ, घटना या क्रिया का वाचक होता है—उसमें कोई पूरा विचार या भाव व्यक्त करने की क्षमता नही होती। शब्द-प्रतीक वाक्य के सन्दर्भ में ही सार्थक होते हैं, तथापि वाक्य मे प्रयुक्त होने पर शब्दो की सम्प्रेषणीयता एवं भावप्रवणता अपरिहार्य हो जाती है। उसे किसी भी रूप में नकारा नही जा सकता। वाचक-वाच्य के साहचर्य से बिम्ब-ग्रहण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है जो संप्रेषण-प्रक्रिया का प्रमुख आधार है।

जब श्रोता शब्द-प्रतीकों को सुनता है, तो वह अपने पूर्व अनुभवो के आधार पर अचेतनावस्था में ही शब्द-प्रतीकों का सम्बन्ध उनके द्योतक पदार्थों, क्रियाओं, प्राणियों, घटनाओ अथवा दृश्यो से जोडता है। यह सम्बन्ध स्थूल रूप में न होकर भावात्मक होता है। इस सम्बन्ध को वाचक-वाच्य या द्योतक-द्योत्य सम्बन्ध कहते है। वाचक-वाच्य में सम्बन्धात्मक सामंजस्य स्थापित होने पर वह अर्थ ग्रहण करता है। अर्थ-ग्रहण की इस प्रक्रिया को 'बिम्ब-ग्रहण' की प्रक्रिया भी कहते हैं। जैसे—''गाय घास चर रही है।'' इस वाक्य से इस प्रक्रिया को निम्नवत् स्पष्ट किया जा सकता है—
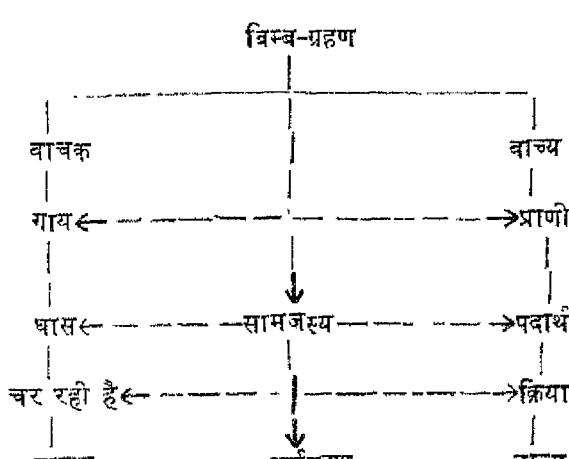
भाषा की सम्प्रेषण-क्षमता व्यक्ति की उस योग्यता को कहते हैं जिसके द्वारा वह भाषाई कथनों को समझता और व्यवहार में लाता है जिनका व्याकरणिक महत्त्व उतना नही है जितना कि सन्दर्भ के अनुकूल उनके समुचित प्रयोग का। इस प्रकार भाषाई सम्प्रेषण में अर्थ, सन्दर्भ और उसके अनुकूल प्रयोग की परिस्थितियों का विशेष महत्त्व है। परिस्थितियाँ अतिभाषीय लक्षणों का एक उपसमुच्चय है जिनसे भाषाई लक्षणों की पहचान होती है। परिस्थितियों के अनुकूल भाषा-व्यवहार से ही विभिन्न शैलियों और प्रयुक्तियो (रजिस्टर्स का आविर्भाव होता है

इनमें विशिष्ट शब्दों के प्रयोग का विशेष योगदान रहता है। शब्दों में भाषाई और अतिभाषीय दोनों लक्षणों का समावेश होता है। शब्द-प्रयोग की जितनी परिस्थितियां होती हैं, उनसे उतने ही शैलीगत भाषाई लक्षण अभिव्यक्त होते हैं। सम्प्रेषणीयता को ध्यान में रखकर शब्दार्थ की अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार हो सकते हैं—

१. **शब्दशक्तिपरक**—शब्दों में अन्तर्निहित अर्थ की अभिव्यक्ति के प्रकार को 'शब्दशक्ति' कहते हैं। शब्दशक्तियाँ तीन हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनके आधार पर शब्दों के अर्थ की प्रतीति अलग-अलग ढंग से होती है। अभिधा शक्ति से शब्द का मुख्यार्थ अभिव्यक्त होता है। शब्दकोश, व्याकरण और सामान्य भाषा-व्यवहार में शब्द का जो अर्थ प्रसिद्ध होता है, उसे मुख्यार्थ कहते हैं। उसे समझने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होती। जैसे—गाय, घोड़ा, घर, पुस्तक, लड़का आदि शब्द-प्रतीकों और उनसे सम्बद्ध प्राणियों और पदार्थों आदि का वाचक-वाच्य सम्बन्ध स्थापित करके मुख्यार्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे—"गाय घास चर रही है" इस वाक्य में गाय, घास और चर रही है—इन शब्दों में 'गाय' और 'घास' शब्द क्रमशः प्राणी और पदार्थ के वाचक हैं और 'चर रही है' क्रिया के वाचक हैं। यहाँ शब्द-प्रतीकों और उनसे सम्बन्धित पदार्थों तथा क्रिया का आपस में वाचक-वाच्य या द्योतक-द्योत्य सम्बन्ध है। पूर्व अनुभवों के आधार पर इनका भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करके श्रोता या वाचक जो अर्थग्रहण करता है, वह मुख्यार्थ या अभिधार्थ कहलाता है और उसका सम्प्रेषण अभिधा शक्ति के द्वारा होता है।

१.२ जब मुख्य अर्थ से अभीष्ट सूचना का सम्प्रेषण नहीं होता और रूढ़ि या किसी प्रयोजन से उसका जो अर्थग्रहण अथवा अभिव्यक्त किया जाता है, उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं और अर्थ की उद्भावक शक्ति को लक्षणा कहते हैं (सा० दर्पण, द्वि० परि०, श्लोक ५)। शब्दों का लक्ष्यार्थ उनके मुख्य अर्थ पर आधारित होकर भी उससे भिन्न होता है। जैसे—

(१) महाराणा प्रताप चित्तौड़ के शेर कहलाते हैं।
(२) रामदास तो बिल्कुल गधा है। वह कोई भी काम ठीक प्रकार से नहीं करता।
(३) दिनेश तो कुत्ता है जो जरा सी लालच में आकर झुक जाता है।
(४) सुषमा तो बेचारी गौ है।
(५) उसका नौकर तो उल्लू है जो किसी भी बात को नहीं समझता।

इन वाक्यों में शेर, गधा, कुत्ता, गौ और उल्लू के अर्थ का जानवरों से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इन जानवरों के अर्थ से उक्त शब्दों की सम्प्रेषणीयता का कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता। अतः इनका अभीष्ट अर्थ क्रमशः वीर, मूर्ख, नीच, सीधी-सादी निष्कपट और बुद्धिहीन होगा जो लक्षणा शक्ति से ही ग्रहण किया जा सकता है।

१.३ मुख्य अर्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त जो अर्थ, सन्दर्भ या परिस्थिति विशेष के कारण ग्रहण किया जाता है, उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। इस सन्दर्भ में नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(१) अब सूर्यास्त हो गया।
(२) स्कूल की घंटी बज गई।
(३) सिगनल गिर गया।
(४) पत्ता तक नहीं हिला।
(५) गंगा पर कुटियाँ बना ली गई हैं।

इन वाक्यों का अपेक्षित अर्थ न तो अभिधा से अभिव्यक्त है और न लक्षणा से लक्षित है

अपितु व्यंजना से व्यंजित है—यहाँ क्रमशः सूर्यास्त से 'काम बन्द करने', घन्टी बजने से 'स्कूल का कार्य आरम्भ होने', सिगनल गिरने से 'गाड़ी छूटने', पत्ता न हिलने से 'नितान्त शान्त वातावरण होने' और गंगा पर कुटी से उसकी 'शीतलता तथा पावनता' का अर्थ व्यंजित होता है जो व्यंजना शक्ति से उद्भूत है।

२. **सामाजिक सन्दर्भगत**—भारतीय समाज में अनेक वर्गभेद व्याप्त हैं जिनके आधार जाति, धन, शिक्षा, आयु और लिंगभेद है। इनके भाषा-प्रयोग में अन्तर आना स्वाभाविक है। जैसे सामाजिक संस्कृति के कारण समाज के विभिन्न व्यक्तियों से तू, तुम, आप आदि शब्दों का प्रयोग होता है। इनका सामान्य अर्थ तो लगभग एक ही है, क्योंकि मध्यम पुरुष एकवचन में उक्त तीनों पुरुषवाचक सर्वनामों का प्रयोग होता है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से इनका अर्थ भिन्न है—छोटे व्यक्ति से तू, बराबर वाले से तुम और बड़े व्यक्ति से आप शब्द का प्रयोग मान्य है। इन शब्दों से वक्ता-श्रोता के सामाजिक वर्गों और कभी-कभी आपसी सम्बन्धों का पता चलता है। कभी-कभी अत्यन्त निकटता के कारण भी तू और तुम का प्रयोग अपने से बड़ों के प्रति हो जाता है और हम का प्रयोग मैं के स्थान पर और आदरार्थ एकवचन का बहुवचन में प्रयोग शैली-विशेष के कारण होता है। जैसे—

माँ तू मुझे खाना खिला दे। (बड़ों के प्रति)
हम स्कूल जा रहे हैं। (लड़के और लड़कियों का प्रयोग एकवचन में)
उन्होंने (कृष्ण ने) अर्जुन से कहा। (एकवचन आदर में)
इसी प्रकार अन्य बहुसंख्यक शब्दों का प्रयोग भी देखा जा सकता है।

३. **संरचनागत**—संरचनार्थ उसे कहते हैं जिसकी अभिव्यक्ति शब्द की संरचना से होती है। उदाहरण के लिए प्रभाकर, हाथी, पंकज, अचला, सुधांशु और लौकिकता आदि शब्दों को लिया जा सकता है। प्रभा (कान्ति) उत्पन्न करने वाले को प्रभाकर (सूर्य), हाथ (सूँड़) रखने वाले को हाथी, पंक से उत्पन्न होने वाले को पंकज (कमल), न चलने वाली को अचला (पृथ्वी), सुधा (अमृत) की किरणों वाले को सुधांशु (चन्द्रमा) और लोक में होने वाले भाव को लौकिकता आदि अर्थ संरचना-प्रसूत हैं। संरचनार्थ वस्तुतः यौगिक शब्दों का होता है। किसी रूढ़ि के साथ सम्बद्ध होकर वे योगरूढ़ि कहलाते हैं।

४. **व्याकरणगत**—जिन शब्दों के अर्थ की अभिव्यक्ति उक्त वर्गों के अन्तर्गत नहीं आती, परन्तु वाक्य-रचना की दृष्टि से उनका प्रयोग महत्त्वपूर्ण है, ऐसे शब्दों को व्याकरणिक कार्य करने वाले या प्रकार्यात्मक शब्द कहते हैं और उनके अर्थ को व्याकरणार्थ या प्रकार्यार्थ की संज्ञा दी जाती है। जैसे—

हरिराम ने खाना खाया।
राधेश्याम को यहाँ भेजो।
मुझसे बात करो।
कक्षा में बैठो।
यह सुरेश का छोटा भाई है।

इन वाक्यों में 'को, से, में और का' अलग से कोई अर्थ नहीं रखते, परन्तु व्याकरणिक दृष्टि से सार्थक हैं। लिंग, वचन, पुरुष और परसर्गों आदि के अनुसार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया और विशेषण शब्दों के विकारी रूपों में व्याकरणिक अर्थ सर्वत्र परिलक्षित होता है।

५. **अनेकार्थी शब्दगत**—सन्दर्भ या परिस्थिति के अनुकूल शब्‍ अनेकार्थी शब्दों में बहुलता से देखी जा सकती है। वितरण के आधा॰ शब्दों के अर्थ की संप्रेषणीयता स्वतः ही उद्भाषित हो उठती है। यहाँ ऐ॰ देना अपेक्षित होगा।

पानी : कृष्ण को प्यास लगी तो उन्होंने अर्जुन से पानी लाने को कह
रमेश का पानी मर गया है, फटकार का उस पर कोई असर
अँगूठी के नग का पानी जाता रहा। (चमक)

गोली : रोगी ने कितनी गोलियाँ खाई है। (दवा की)
पुलिस की गोली खाते ही डाकू मर गया। (बन्दूक की)
सबके नाम की गोलियाँ डाली गईं। (कागज की)
बच्चे सड़क पर गोलियाँ खेल रहे है। (काँच की)
वह तो गोली खाकर मस्त पड़ा है। (नशीली)

शाखा : इस पेड़ की शाखा बहुत कोमल है। (डाल)
आगरा मे कनारा बैक की अनेक शाखाएँ हैं। (इकाइयाँ)
भारत मे के० हि० संस्थान की तीन शाखाएँ हैं। (केन्द्र)
रेल की शाखाओं का जाल बिछ गया है। (पटरी)

कर : पानी का कर बढ़ता जा रहा है। (टैक्स)
यह पुस्तक आपके कर-कमलों में समर्पित है। (हाथ)
जिसके कर (सूँड़) हो, उसे करी कहते हैं। (सूँड)
सहस्रकर सूर्य को कहते है। (किरण)
इस काम को सभी कर सकते हैं। (करना)

खाना : यहाँ एक दवाखाना भी है।
टिकट डाकखाने में मिलेंगे।
रोगी को दवा खाना उचित ही है।
मार खाना उसकी आदत में आ गया है।
उसे रोज दो चपत खाने पड़ते हैं।
उसे जेल की हवा खाना पसन्द है।
गोली खाना था कि वह चल बसा।
उसे व्यापार में बट्टा खाना पड़ा।

उक्त शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि शब्दों का अर्थ परिस्थितिगत भासित और निर्धारित होता है। प्रसंगानुकूल बहुविध प्रयोग से शब्दो के आभास भी मिलता है।

६. **अनुतानगत**—ध्वनि, विवृति, बल और सुर के समन्वित रूप हिन्दी में इन रागात्मक तत्वों का प्रयोग ध्वनि, रूप, शब्द, पदबन्ध और वाव है। वाक्य में किसी एक तत्व की प्रधानता तो हो सकती है, परन्तु अनु॰ अर्थ या भाव को प्रभावित करता है और वाक्य के सभी तत्व किसी न होते है। शब्द-स्तर पर इन तत्वों की प्रमुखता नीचे लिखे उदाहरणों मे देखी

विवृति— भोजन को बन्द रखा गया। भोजन को बन्दर खा गया।
दवा की एक शीशी खा ली है। दवा की एक शीसी खानी है।

रोको मत, जान दो ।   रोको, मत जाने दो ।
चाय पीली है ।   चाय पी ली है ।
वह लौटाया ।   वह लौट आया ।

बल :   वह घर गया था ।   (और कोई नहीं)
वह क्या **गया** था ?   (प्रश्न)
वह **घर** गया था ।   (और कहीं नहीं)

सुर :   वह जा रहा है ।   (सूचना)
वह जा ↑ रहा है ?   (प्रश्न)
वह जा रहा ↓ है ?   (आश्चर्य, सन्देह)

यहाँ विवृति, बल और सुर की प्रमुखता से अर्थ में परिवर्तन के उदाहरण दिए गए है । कुछ स्थानो पर 'बल' देने से शब्दों के अर्थ में ही बिल्कुल परिवर्तन देखा जाता है । जैसे—

हरीश बाजार **थोड़ाई** गया था ।   (नहीं)
आप स्टेशन गये थे **न** ?   (प्रश्न)
वह **कहाँ** गया था ।   (नहीं)
मैंने खाना **कब** खाया था ।   (नहीं)
वहाँ **कौन** जा पाया ।   (कोई नहीं)

इन वाक्यों मे 'न' का प्रयोग प्रश्न के अर्थ मे और थोड़ाई, कहाँ, कब और कौन का प्रयोग 'नहीं' के अर्थ में हुआ है ।

७. **पर्यायगत**—पर्यायवाची शब्द उन शब्दों को कहते हैं जिनका प्रयोग सामान्यतः समान अर्थ में होता है । इनके अर्थ में सूक्ष्म अन्तर देखा जाता है जिसे हम प्रसंग-विशेष में उनके प्रयोग से समझ सकते है । इनका सही और सक्षम प्रयोग, प्रयोक्ता की भाषाई दक्षता और शब्दों पर उसके अधिकार का परिचायक होता है । शब्दों का प्रसंगानुकूल सार्थक प्रयोग भाषा की जीवन्तता है । यथा—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी । मानहुँ रोस तरंगिनि बाढ़ी ।।
सुनहु विनय मम बिटप अशोका । सत्य नाम करु हरु मम सोका ।।

उक्त पंक्तियों में कुटिल, रोस, तरंगिनि और अशोक आदि शब्दों का प्रयोग कवि की पैनी दृष्टि और भाषाई दक्षता की अद्वितीय क्षमता का परिचायक है । यहाँ कुछ पर्यायवाची शब्द और उनके सूक्ष्म अन्तर की ओर संकेत किया जा रहा है । जैसे—

कमल—शतदल, उत्पल, वारिज, सरसिज, अरविंद, अम्बुज आदि ।
सूर्य—दिनकर, दिवाकर, सहस्रांशु, रवि, भानु, हिरण्यगर्भ, हरिदश्व, दिवाकर, प्रभाकर और पूषण ।

इन शब्दों का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करने के लिए प्रसंग के अनुरूप शब्दों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है । सूर्य के घोड़े हरे रंग के होते है । अतः उन्हे 'हरिदश्व' कहते है । दिन निकलते ही 'सहस्ररश्मि' की हजारो किरणों का जाल सारे संसार में फैल जाता है । सुबह होते ही शतदलों की सैकड़ों पखुड़ियाँ खिल जाती हैं । अंबुजों से जल की शोभा बढ़ती है । सुधांशु की शीतल किरणो से सुधा की वर्षा हो रही है । निशा की शोभा निशाकर से होती है । प्रभाकर की कान्ति चारों ओर फैलने लगती है । दिनकर के निकलने से दिन का आरम्भ होता है और अधिक

स्पष्ट करने की दृष्टि से हम वृक्ष शब्द के पर्यायवाची शब्दों को ले सकते हैं— वृक्ष : महीरुह, शाखी, विटपी, पादप और तरु।

वृक्ष —सामान्य पेड़।
महीरुह —पृथ्वी पर उगने वाला।
शाखी —बहुत-सी शाखाओं वाला।
विटपी —गन्दा घोल पीने वाला।
पादप —पैरों से पीने वाला।
तरु —जिस पर फूल और फल दोनों लगते है।

समानार्थी शब्दों को पर्यायवाची शब्द भी कहते हैं। ये शब्द समानार्थी तो होते है, परन्तु एकार्थी नहीं होते। 'पल्लव' की भूमिका मे सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है कि हिलोर, लहर तथा तरंग पर्यायवाची हैं, किन्तु हिलोर में उठान, लहर में कोमल कम्पन तथा तरंग मे लहरों के समूह का एक-दूसरे को ढकेलना तथा उठकर गिर पड़ने का भाव व्यक्त होता है। यही स्थिति अनिल, वायु, पवन और समीर की है। अनिल मे कोमल शीतलता है, वायु में निर्मलता के साथ लचीलापन है, पवन में हवा के रुकने की ध्वनि है तो समीर मे हवा के लहलहाकर बहने का भाव है।

पर्यायवाची शब्दों के अर्थ का सूक्ष्म अन्तर न केवल संज्ञा शब्दों में ही रहता है, बल्कि विशेषण और क्रिया शब्दों मे भी उपलब्ध होता है। जैसे सज्जन और महान् शब्दों पर विचार करने पर सज्जन में अच्छी भावनाओं का समावेश होता है, जबकि महान् में बड़प्पन के गुण अपेक्षित है। इन दोनों शब्दो के अर्थ-सम्बन्धी भेद को स्पष्ट किया जा सकता है। गहराई से विचार करने पर प्रायः सभी पर्यायवाची शब्दों मे कुछ न कुछ अर्थभेद खोजा जा सकता है।

८. **सह-प्रयुक्तिगत**—वाक्य के संरचना-क्रम मे शब्दो के प्रयोग की स्थिति शब्दों की सह-प्रयुक्ति कहलाती है। भारतीय भाषाओं में शब्दो के प्रयोग का क्रम कर्ता+कर्म+क्रिया है। यदि इस क्रम को बदल दिया जाता है, तो अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। शब्दों का क्रम निर्धारित होने पर भी प्रत्येक शब्द का प्रयोग हर शब्द के साथ नहीं हो सकता क्योंकि शब्दों के क्रम मे अर्थसंगति का होना भी अनिवार्य है। वाक्य में शब्दों की अर्थसंगति लाने के लिए उनमें परस्पर योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति (सन्निधि) की अपेक्षा होती है—'वाक्यं स्याद्योग्यता कांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः' (सा० दर्पण २·१)।

योग्यता पदो या शब्दो की कार्यक्षमता को कहते हैं। सभी पदों मे 'परिस्थिति-विशेष के अनुकूल कार्य' करने की क्षमता नहीं होती है। जैसे यदि हम कहें कि 'रामदास कमल से सब्जी काटता है।' इस वाक्य मे कमल से सब्जी काटने की क्षमता नहीं है, चाकू मे है। इस परिस्थिति में कमल के बजाय 'चाकू' शब्द का प्रयोग उचित है। इस प्रकार जिन शब्दों में कार्य-विशेष को करने की क्षमता हो, उन्ही का प्रयोग उचित होगा।

शब्दों मे कार्यक्षमता के अतिरिक्त भाषा के साधु प्रयोग मे उनका ग्राह्य होना आवश्यक है—कभी-कभी शब्द व्यावहारिक दृष्टि से अग्राह्य भी हो जाते है। जैसे—'मैं उसे आज्ञा करता हूँ'। इस वाक्य मे आज्ञा के साथ 'करता हूँ' का प्रयोग ग्राह्य नहीं है, बल्कि 'आज्ञा देता हूँ' प्रयोग ग्राह्य है। इसी प्रकार 'आभार प्रकट किया' के बजाय 'आभार दिया', 'प्रतीक्षा करने' के बजाय 'प्रतीक्षा देखने' और 'मूल्य आँकने' के बजाय 'मूल्य नापने' का प्रयोग ग्राह्य नहीं होगा। अतः ऐसे अग्राह्य शब्दों का प्रयोग करना उचित नहीं है।

वाक्यों में शब्दों की योग्यता के साथ-साथ आकांक्षा का होना भी आवश्यक है। शब्दों की
को कहते हैं। जिस शब्द के बाद जिसकी होती है, उसी का प्रयोग

होना चाहिए। तभी शब्द अपना अपेक्षित अर्थ दे सकते हैं, अन्यथा उनसे अनपेक्षित अर्थ ग्रहण किया जा सकेगा। जैसे—'देता हूँ आज्ञा मैं उसे', 'रहे हैं पढ़ समाचार-पत्र वे', 'ने अध्यक्ष व्यक्त आभार किया' आदि वाक्य अपेक्षित अर्थ नहीं दे सकते। पहले वाक्य का अर्थ प्रस्तुत शब्द-क्रम से इस तरह बदल जायेगा कि 'उसे मैं ही आज्ञा देता हूँ, अन्य कोई नहीं।' इसी प्रकार अन्य वाक्य भी न केवल कर्ता की अहंमन्यता के परिचायक हैं, अपितु असंगत भी हैं।

शब्दों के प्रयोग में योग्यता और आकांक्षा के अतिरिक्त आसत्ति (नैरन्तर्य) भी बना रहना चाहिए, अन्यथा वे निरर्थक होंगे—उनमे समय या अन्य शब्दों का व्यवधान होने पर अर्थ निकलना असम्भव होगा। जैसे—

राम·········(एक घन्टा बाद) घर······(दो घन्टे बाद)·········जाता है।

या

राम (समय सारणी स्कूल) घर (बगीचे की दयनीय दशा) जाता है।

उक्त दोनों वाक्यों से क्रमशः समय और अन्य शब्दों का बीच में व्याघात होने के कारण वांछित अर्थ निकलना असम्भव है। निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि वाक्य की सह-प्रयुक्ति में योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि तीनों ही महत्त्वपूर्ण और अर्थ की प्रतीति में अनिवार्यतः सहायक हैं।

शाब्दिक क्षमता तथा सम्प्रेषणीयता—शब्द-बोध और उनके व्यवहार से सर्जनात्मक शक्ति विकसित होती है। सन्दर्भगत समुचित प्रयोग से शब्दों की अर्थछटाएँ उद्भाषित होती हैं। उन अर्थछटाओं की पर्तों को उद्घाटित करके शब्दों के उपयुक्त प्रयोग से सम्प्रेषण-क्षमता का विकास होता है। भाषाई सम्प्रेषणीयता के पाँच निर्धारक तत्त्व है—प्रतीक-योजना, क्रियायोग, असंदिग्धता, शब्द-क्रम और परिकल्पना। इनमे प्रतीक-योजना पर पहले भी चर्चा की जा चुकी है। भाषा-व्यवहार में वक्ता अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर शब्द-प्रतीकों को एक सुनियोजित क्रम में संजोता है और अपने विचारों को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि दूसरे उन्हें सुगमता से समझ सकें। इस अभिव्यक्ति में शब्द-प्रतीक जितने सबल होंगे, भाषाई घटकों का क्रम जितना सुनियोजित होगा, कल्पना जितनी सजीव एवं साकार होगी, शब्द-योजना जितनी सटीक होगी और क्रिया के साथ उसका जितना सही योग होगा, उतनी ही सम्प्रेषणशीलता प्रभावशाली, सुग्राह्य और सबल होगी। यहाँ क्रियायोग, असंदिग्धता, शब्द-क्रम और परिकल्पना से सम्बन्धित कुछ उदाहरण देना तर्कसंगत होगा—

क्रियायोग— धोबी कपड़े धोता है।
रमेश कपड़े धोता है।
मशीन कपड़े धोती है।

इन तीनों वाक्यों में 'धोना' क्रिया का योग है, परन्तु सन्दर्भ के अनुकूल धोबी के द्वारा कपड़े धोने, रमेश के द्वारा कपड़े धोने और मशीन से कपड़े धोने की क्रिया में स्पष्ट अन्तर है। धोबी के कपड़े धोने में व्यवसाय की भावना है, रमेश के कपड़े धोने में स्वावलम्बन है और मशीन से कपड़े धोने में साधनत्व है और कर्तृत्व का अभाव है।

असंदिग्धता—यह सुरेन्द्र का चित्र है।
मुझे उसे पाँच रुपये देने हैं।

पहले वाक्य के तीन अर्थ हो सकते हैं 'सुरेन्द्र का छायांकन' 'सुरेन्द्र ।ना बनाया हुआ चित्र और सुरेन्द्र का खरीदा हुआ चित्र दूसरे वाक्य म मैं रुपये दूँगा' या वह मुझे रुपये देगा

दोनों अर्थ निकल सकते हैं। परन्तु सन्दर्भानुकूल प्रयोग से इनके अर्थग्रहण में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होगी।

शब्द-क्रम—आप क्या लिख रहे है ? (वस्तुगत अपेक्षा)
क्या आप लिख रहे हैं ? (लिखने की क्रिया के प्रति जिज्ञासा)
मैं घर जाऊँगा। (सूचना मात्र)
घर मैं जाऊँगा। (दूसरा कोई नहीं)

उक्त तीनों प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट है कि शब्दक्रम-परिवर्तन से कई अर्थ निकलने की सम्भावना हो सकती है जिससे भाषाई सम्प्रेषण में बाधा उपस्थित हो जाती है। इसलिए देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त शब्द-प्रयोग ही विचार-संप्रेषण और भाषा-शिक्षण का प्रभावकारी, सरल, स्पष्ट एवं रोचक तत्त्व होगा। अध्यापक इस चिन्तनधारा में अपने को ढालकर सक्षम युक्तियों द्वारा भाषा, विशेषत: अन्य भाषा की प्रक्रिया को सरस एवं जीवन्त बना सकते हैं।

परिकल्पना—परिकल्पना एक सर्जनात्मक मानसिक प्रक्रिया है जो अतीत काल के अनुभवों पर आधारित होती है और उसका सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से होता है। हम जो अनुभव प्राप्त करते हैं, उनके अवशेष मस्तिष्क में अंकित हो जाते हैं, उन्हें स्मृति-चिह्न (मेमोरी ट्रेसेस) कहते है। ये स्मृति-चिह्न धारणा-शक्ति के आधार है। धारणा एक मनोदैहिक (साइको-फिजिकल) प्रक्रिया है। जब हम पूर्व अनुभूत घटनाओं या सीखी बातों को पुन: चेतना मे लाते है, तो धारणा-शक्ति के आधार पर उन्हें नवीन रूप प्रदान करते हैं। जब यह कल्पनात्मक सर्जना नवीन रूप में विकसित होती है, तो इससे भाषाई सम्प्रेषणीयता को नई दिशा प्राप्त होती है। इस प्रकार भाषाई क्षमता और सम्प्रेषणीयता में परिकल्पना का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वाक्य विचार-सम्प्रेषण की प्रमुख और लघुतम इकाई माना जाता है। उसका गठन शाब्दिक घटकों के क्रम-नियोजन और उनकी पूर्वापर व्यवस्था पर निर्भर रहता है। इसलिए हम वाक्य में शब्द की जादुई शक्ति को सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते। भारतीय मनीषियों ने 'शब्द ब्रह्म' कहकर शब्द को ब्रह्म की उपाधि से विभूषित किया है। शिक्षा-दर्शन तो शब्द को लोक-परलोक दोनो में हमारी सभी इच्छाओं की पूर्ति करने वाला मानता है—**"एक: शब्द: सम्यग्ज्ञात: स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति"**। यह पंक्ति शब्द की अनन्त सम्प्रेषणीय शक्ति की उद्भावना करती है। इससे शब्द की असीम गहराइयों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है। इस दिशा मे हमे विशेष प्रयास की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख मे उसकी एक हल्की-सी छटा मात्र ही दिखाई जा सकी है।

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान,
आगरा

हिन्दी आदि भाषाओं के आधार पर संस्कृत का पुनर्निर्माण

□

डॉ० सुद्युम्नाचार्य

संस्कृत भाषा सभी नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के उत्स के रूप में मानी जाती है। संस्कृत के शब्द विभिन्न देशों में विभिन्न प्राकृत रूपों में परिवर्तित हुए आज उत्तर भारत में प्रयुक्त विभिन्न बोलियों के रूप में प्राप्त होते हैं। इन बोलियों के मूल संस्कृत शब्दों का विवेचन भाषाविज्ञान का एक अलग रुचिकर विषय है।

संस्कृत शब्दों का परिज्ञान आज हमें उस समय के साहित्य, व्याकरण आदि के द्वारा होता है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस प्रकार की संस्कृत कभी बोलचाल के रूप में भी थी, तभी उससे विभिन्न प्राकृत भाषाएँ जन्म ले सकीं। इस साहित्य से संस्कृत के करोड़ों शब्दों का परिज्ञान होता है। इतना होने पर भी इस साहित्य से संस्कृत के सभी शब्दों का परिज्ञान नहीं होता। वास्तव में संस्कृत साहित्य कोई शब्द-सूची तो है नहीं, जिसमें सभी शब्द क्रम से आ गये हों। व्याकरण भी सभी शब्दों के अनुशासन का दावा नहीं करता।

इस दशा में ऐसे बहुत से शब्द रहे जिनका वर्णन साहित्य तथा व्याकरण में नहीं हो सका। पर वे उस समय प्रयुक्त प्राकृत बोलियों में विधिवत् चलते रहे। इन शब्दों को देखकर उन संस्कृत के शब्दों की कल्पना की जा सकती है। जिस प्रकार संस्कृत के आधार पर विभिन्न हिन्दी आदि के शब्दों की व्याख्या की जाती है, उसी प्रकार हिन्दी आदि शब्दों के आधार पर कुछ भाषिक नियमों को प्रयुक्त करते हुए संस्कृत शब्दों की भी व्याख्या सम्भव है। इस प्रकार हिन्दी आदि शब्दों को देखकर ऐसे संस्कृत शब्दों का अनुमान, जो संस्कृत-साहित्य में प्राप्त नहीं हैं, उन्हें संस्कृत का पुनर्निर्माण कहा जाता है।

भाषाविज्ञान में शब्दों के पुनर्निर्माण की शाखा अपेक्षाकृत नई है तथा इस पर अब भी पर्याप्त शोधकार्य हो सकता है। संस्कृत के लुप्त शब्दों के परिज्ञान में यह शाखा अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकती है। अपने देश में बोलियों का क्षेत्र अतीव व्यापक है तथा उसमें प्राचीन शब्द-सम्पदा की खोज की अपरिमित सम्भावनाएँ हैं।

इस पुनर्निर्माण के विवेचन में कुछ शब्द ऐसे प्राप्त होते हैं जिनका मूल लौकिक संस्कृत में तो नहीं है, पर ऐसे शब्दों के अस्तित्व की प्रामाणिकता वैदिक शब्दों द्वारा सिद्ध हो जाती है। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'दुहना' क्रिया का प्रयोग होता है। अतः संस्कृत में 'दुहति' की कल्पना होती है पर लौकिक संस्कृत में दोग्धि दुग्ध आदि का ही प्रयोग मिलता है [illegible] में भी ऐसा ही नियम बनाया गया है पर वेद में दुहति दुह्रतु आदि बहुत से प्रयोगों से इस प्रयोग की

प्रामाणिकता सिद्ध होती है। स्पष्ट है कि प्राकृत प्रयोगों ने वैदिक धारा का अनुसरण किया है, संस्कृत का नहीं।

इसी प्रकार लौकिक संस्कृत शब्दों के पुनर्निर्माण के लिए भी बहुत से प्राकृत, हिन्दी शब्दो को प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रातः समयवाचक अनेक शब्द ऐसे ही है। संस्कृत में बहुधा प्रयुक्त 'प्रातर्' शब्द हिन्दी आदि में आज संभवतः भोर के रूप में जीवित है। पर इसके साथ ही हिन्दी आदि मे सवेरा, सकारे, बिहान आदि अन्य अनेक शब्द देखने को मिलते हैं। यहाँ सबेरा शब्द संस्कृत के सुवेला से निर्मित है। यह कुवेला>कुबेरा से भी तुलनीय है। इसी प्रकार सकारे संस्कृत के 'सुकाल' से विकसित है। इससे लगता है कि बहुत प्राचीन समय से प्राकृत लोग प्रात.काल को 'अच्छा समय' से सम्बोधित करना पसन्द करते थे। यह ठीक भी है, क्योंकि सभी पुराने साहित्य मे इसे सबसे अच्छा समय माना गया है। इसीलिए संस्कृत में इसे ब्राह्म मुहूर्त का नाम दिया गया है। इस प्रकार 'सुकाल' जैसे केवल अच्छा समय कहने मात्र से प्रातःकाल का बोध हो जाता था। इसी प्रकार 'बिहान' शब्द संस्कृत के 'विभान' से निर्मित है। यह प्रातःकाल के ज्योतिष्क होने के कारण है। इसके साथ ही प्रातःकालीन भोजन के लिए संस्कृत में बहुधा प्रयुक्त 'प्रातराश' शब्द नहीं चला, पर कम प्रयुक्त 'कल्यवर्त' शब्द चलता रहा तथा इसी से हिन्दी आदि में 'कलेवा' निर्मित हुआ। 'मृच्छकटिक' में तुच्छ या महत्त्वहीन वस्तु को कल्यवर्त कहा गया है।[1] पर प्राकृत आदि में स्पष्टतः प्रातःकालीन सूक्ष्म भोजन के लिए यह रूढ़ हो गया था।

इसी प्रकार प्राकृत आदि में 'कल' के लिए संस्कृत के ह्यः, श्वः से शब्द प्रायः निर्मित नही हुए। पर संस्कृत के कम प्रयुक्त 'काल्य' से 'कला' देखने को मिलता है। पाणिनि के अनुसार 'काल्य' का अर्थ है वह कार्य जिसका समय आ गया हो, अर्थात् सामयिक कार्य। प्राकृत आदि मे यह माना गया कि सामान्य कार्यों का समय अगले दिन तो आ ही जाता है। अतः उन्हें 'श्व.' नहीं, अपितु काल्य कार्य कहा जाने लगा। इससे ही 'कल' बन गया।

पर 'परसों' शब्द में 'श्व' जीवित रहा, क्योंकि यह 'परश्वः' से निर्मित माना गया है। इसके साथ ही जो परसों का नहीं, उसके लिए एक अलग ही 'अतिश्वस' शब्द का आविष्कार हुआ। इससे ही हिन्दी का तरसों शब्द बना। इसी प्रकार इस वर्ष के लिए 'ऐषम' का तथा अगले वर्ष के लिए परुत्, परारि का प्रयोग संस्कृत मे कम ही देखने को मिलता है। यद्यपि आचार्य पाणिनि ने इसका विधान किया है। पर प्राकृत आदि मे ये सदा जीवित रहे, क्योंकि ऐषम से ही हिन्दी आदि में 'आसौ' तथा परुत्, परारि से 'परियार साल' निर्मित हुए हैं। यहाँ 'साल' का प्रयोग विन्ध्याचल पर्वत के समान है। कभी-कभी अज्ञानता मे समानार्थक शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे यहाँ अचल तथा पर्वत दोनों पर्यायवाची का प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार यहाँ परियार से ही साल अर्थ के समाहित होने पर भी अलग से प्रयोग कर दिया गया है।

इस प्रकार त्यौहार अर्थ को प्रकट करने के लिए संस्कृत का 'उत्सव' शब्द प्राकृत आदि मे प्रायः नहीं चल सका। अपितु इसके लिए एक अलग ही 'तिथिवार' शब्द का आविष्कार हुआ। इससे ही हिन्दी में त्यौहार बना। इस तिथिवार का प्रयोग संस्कृत मे अतिस्वल्प है। पर सोमवार आदि के वजन पर इसकी कल्पना हुई तथा विशेष दिन के लिए इस 'तिथिवार' को रूढ़ कर दिया गया।

इसी प्रकार खाने के अर्थ में जक्ष तथा भक्ष, इन दोनो धातुओं का प्रचलन संस्कृत मे था। भक्ष से भक्षयति आदि रूप बने। इससे ही हिन्दी में 'भखना' प्रचलित हुआ। पर जक्ष धातु प्राकृत

१. ननु कल्यवर्तमेतत्—मृच्छकटिक
२ कालाद्यत् (५/१) काल प्राप्तोऽस्य काल्यम्

मे नही चल सकी अपितु 'चक्ष' का प्रयोग होता रहा। इसीलिए हिन्दी मे 'चखना' प्रयोग मिलता है। इससे √चक्ष् धातु का पुनर्निर्माण किया जा सकता है।

इसी प्रकार सम्मानपूर्वक आने के अर्थ में 'पधारना' का प्रयोग हिन्दी मे होता है। इससे संस्कृत के 'पद्धारयति' की कल्पना हो सकती है। यद्यपि संस्कृत में इसके लिए 'चरणकमल रखना' आदि प्रयोग विकसित हुए। पर प्राकृत में 'पद्धारयति' अर्थात् 'पैर रखना' ही इतना सम्मानित बना दिया गया कि वह पधारना के रूप मे अतीव सम्मानित अर्थ को प्रकट करने लगा।

इसी प्रकार संस्कृत में अच्छी सुगन्ध के लिए सुगन्ध का प्रयोग होता है। पर इसके लिए संस्कृत के 'मघगन्ध' की कल्पना सम्भव है, क्योंकि इससे ही हिन्दी का 'महकना' विकसित हुआ है। मघ एक फूल का नाम है। उसकी सुगन्ध इतनी प्रसिद्ध हुई कि वह प्रत्येक सुगन्ध का प्रतिमान बन गई। अतएव सबके लिए महकना का प्रयोग प्रारम्भ हो गया।

इसी प्रकार हिन्दी के 'चढ़ना' शब्द के द्वारा संस्कृत के √चृष् धातु के अस्तित्व का अनुमान होता है। इसका प्रयोग संस्कृत मे प्राप्त नहीं है, पर सौभाग्य से वेद मे 'चर्षणि' शब्द के रूप में जीवित है। इससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग अवश्य था तथा इसके आधार पर ही प्राकृत आदि में यह सदा जीवित रहा। पर संस्कृत में लुप्त हो गया। संस्कृत में इस चृष् के स्थान पर कृष् का प्रयोग जारी रहा। इस कृष् के साथ भी उत् उपसर्ग लगाने पर 'उत्कृषति' का प्रयोग आज भी देखा गया है। अतः सर्वथा सम्भव है कि 'चृष्' का अर्थ भी चढ़ना रहा हो।

इसी प्रकार निकलना, निकसना शब्दों के द्वारा हिन्दी के 'निकलति' तथा 'निकसति' शब्दो के अस्तित्व का अनुमान होता है। यद्यपि इन धातुओं का प्रयोग धातु पाठ में है अवश्य, पर इनका प्रयोग संस्कृत में अतीव दुर्लभ है। हिन्दी के इन शब्दों के द्वारा प्राकृत आदि में इनके निरन्तर अस्तित्व की सूचना मिलती है।

इसी प्रकार संस्कृत में बांधने अर्थ के लिए अपि उपसर्गपूर्वक नह् धातु से 'पिनाह्यति' आदि का प्रयोग होता है। इस प्रकार का प्रयोग प्राकृत आदि में था, क्योंकि यह उपानह् > पनही आदि में देखा गया है। पर ऐसा लगता है कि प्राकृत में वर्ण-विपर्यय के द्वारा 'पिह्नति' का भी प्रयोग प्रारम्भ हुआ, क्योंकि तभी इससे हिन्दी मे 'पहनना' शब्द विकसित हो सका है।

संस्कृत में 'प्रस्विद्यति' का प्रयोग पसीना निकलने के अर्थ में होता है। पर बाद में यह लक्षणा द्वारा गीला हो जाने या किसी के प्रति नरम हो जाने के प्रति प्रयुक्त होने लगा। तभी इससे बनने वाले हिन्दी के 'पसीजना' शब्द का यह अर्थ हो सका। इस प्रकार संस्कृत में इस शब्द के इस लाक्षणिक अर्थ की कल्पना की जा सकती है।

इसके साथ ही हिन्दी में 'सूँघना' शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत में इसके लिए 'घ्रा' धातु से 'जिघ्रति' का प्रयोग देखने को मिलता है। निश्चय ही इस 'जिघ्रति' से सूँघना विकसित नहीं हुआ। अपितु 'शुंघति' इस कल्पित धातु से हुआ। धातुपाठ में 'शिघि आघ्राणे' का पाठ भी है। पर संस्कृत मे प्रायः 'शिंघति' का प्रयोग देखने को नहीं मिलता। पर 'सूँघना' प्रयोग से यह कल्पना सर्वथा स्वाभाविक है कि 'शुंघति' का प्रयोग उस समय अवश्य जारी था। अतः इस धातु का पुनर्निर्माण किया जा सकता है।

इसी प्रकार 'साँटना' = चिपकाना इस हिन्दी प्रयोग के द्वारा 'संस्थति' की कल्पना होती है। प्राचीन ग्रन्थों में संस्था का अर्थ समाप्ति प्राप्त होता है पर यह चिपकाना अधिक युक्तियुक्त है

क्योंकि विशेष रूप से स्थित हो जाना एक तरह से चिपकना ही है बाद में उसके चिपकने से आगे गतिशीलता समाप्त होने से उसका समाप्ति अर्थ प्रमुख हो गया।

हिन्दी क्रियापदो मे 'फूलना' क्रिया के द्वारा संस्कृत के 'फुल्लति' प्रयोग का परिज्ञान होता है। यद्यपि संस्कृत में फुल्ल धातु भी है, साहित्य में इसका प्रयोग भी। पर 'पुष्प' की अपेक्षा बहुत कम प्रयोग है। यह देखना रुचिकर है कि प्राकृत भाषाओं मे 'पुष्प' पर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया। पर फुल्ल से फूल, फूलना आदि रूप अत्यधिक प्रचलित हुए।

इसी प्रकार हिन्दी के संज्ञाशब्दो में 'तलुआ' को प्रस्तुत किया जा सकता है। इससे संस्कृत के 'तलपाद' का पुनर्निर्माण होता है। यों संस्कृत में 'पादतल' का प्रयोग व्याकरण के अनुकूल है। पर प्राकृत में इसे न मानकर इसका पूर्वनिपात करना उचित समझा तथा 'तलपाद' के प्रयोग को जारी रखा।

हिन्दी का 'दियारा' शब्द संस्कृत के 'द्वीपाकार' शब्द के अस्तित्व को सुपुष्ट करता है। नदियों द्वारा बनाए गए छोटे द्वीपों के लिए यह शब्द हिन्दी, भोजपुरी आदि में पर्याप्त प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार हिन्दी का 'निराला' शब्द संस्कृत के 'निरालय' शब्द का पुनर्निर्माण कराता है। इसका मूल अर्थ तो गृहविहीन ही है। अतः स्पष्ट है कि समाज मे यह धारणा प्रचलित थी कि गृहविहीन व्यक्ति अचरज-भरा होता है। समाज में एक सामान्य व्यक्ति का चित्र यही था कि उसका कोई परिवार हो, रहने के लिए मकान हो तथा थोड़ी जमीन हो। पर जिसके पास ऐसा कुछ नहीं, वह अचरज-भरा था। इसीलिये निरालय शब्द 'निराला' के रूप मे बदल सका।

इसी प्रकार हिन्दी के 'पखेरू' शब्द से संस्कृत के 'पक्षिरूप' का पुनर्निर्माण होता है। मृत्यु होने पर 'प्राण-पखेरू उड़ गए' ऐसा कहा जाता है। इसका सहज ही अर्थ है कि प्राण जो कि पक्षी के समान है, वे उड़ गए। प्राण की पक्षी से तुलना संस्कृत में नितान्त प्रसिद्ध है। पर इस तुलना को प्राकृत आदि भाषाओं ने अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाकर इस प्रकार अभिव्यक्त किया।

इसी प्रकार आजकल प्रयुक्त सच्चा-झूठा के द्वारा 'सत्यं वा दुष्टं वा' इस जोड़े के प्रचलित होने का अनुमान होता है। 'सत्यमसत्यं वा' यह प्रयोग समाज में स्थान नहीं पा सका था।

इसके साथ ही हिन्दी का 'पायल' शब्द संस्कृत के 'पादल' की ओर स्पष्ट संकेत करता है। संस्कृत के आभूषणों मे इसका नाम प्रायः नहीं मिलता। पर जन-सामान्य में इसका प्रयोग सहज ही पर्याप्त प्रचलित था। पैर में पहने जाने के कारण यह नाम स्वाभाविक भी है।

इसी प्रकार भोजपुरी का 'बेहन' शब्द 'बीजधान्य' को प्रमाणित करता है। यहाँ भी संस्कृत के 'धान्यबीज' को स्वीकार नहीं किया गया। अपितु 'तलपाद' के समान 'बीज' का पूर्वनिपात करना ही ठीक माना गया। इससे लगता है कि संस्कृत के समास मे पूर्वनिपात आदि का नियम शिथिल हो रहा था।

हिन्दी मे गेहूँ आदि रखने के पात्र को 'बखरी' कहा जाता है। यह निश्चय ही संस्कृत के 'भक्ष्यागार' से विकसित है। इससे ज्ञात होता है कि संस्कृत का 'कुठार' शब्द नहीं चल पाया, अपितु नया ही सार्थक शब्द प्रचलन में आता रहा।

इसी प्रकार हिन्दी मे खाली जमीन को 'परती जमीन' कहा जाता है। यह संस्कृत के 'प्ररिक्त' से विकसित हुआ है। अतः स्पष्ट है कि यह विशेष शब्द केवल जमीन के खालीपन को कहने के लिए रूढ हो चला था। इसी प्रकार 'बरियार' शब्द से संस्कृत के 'बलकार' के अस्तित्व का अनुमान भी होता है।

इसके साथ ही हिन्दी का 'भरोसा' शब्द संस्कृत के 'भरवश्य' शब्द के प्राचीन प्रयोग को प्रमाणित करता है। यद्यपि साहित्य में इसका अस्तित्व प्रायः नहीं है, पर 'भरं करोति' का प्रयोग कहीं-कहीं विश्वास करने के अर्थ में देखा गया है। वश्य शब्द अधीन अर्थ में संस्कृत में प्रसिद्ध है। अतः भरवश्य का शाब्दिक अर्थ 'विश्वास के अधीन' यही है। यह चमत्कारपूर्ण है कि ठीक यही अर्थ हिन्दी के भरोसा शब्द में समाहित हो गया है।

इसी प्रकार 'भूंजने आदि के स्थान' के लिए हिन्दी, भोजपुरी मे 'भॅसार' शब्द प्रसिद्ध है। यह निश्चय ही संस्कृत के 'महान सागार' से विकसित है। संस्कृत में रसोई अर्थ में केवल 'महानस' का प्रयोग प्राप्त है। पर प्राकृत मे 'महान सागार' प्रयोग ठीक माना गया तथा इसके जीवन मे प्रमाण बना। इसके साथ ही 'सिरहना' शब्द से 'शिरधान' शब्द के अस्तित्व की सूचना मिलती है। यद्यपि यह व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण शुद्ध नहीं है। संस्कृत में प्रयुक्त 'उपधान' शब्द यहाँ नही चल सका, अपितु उसकी देखा-देखी एक सचमुच सार्थक शब्द का यहाँ विस्तार किया गया।

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर भारत की बोलियों की अपार शब्द-सम्पदा के द्वारा इसी प्रकार के अन्य बहुत से संस्कृत में अप्रयुक्त शब्दों का पुनर्निर्माण सम्भव हो सकता है। भाषाविज्ञान की इस शाखा पर संस्कृत की लुप्त शब्द-सम्पत्ति की खोज के लिए विस्तार से अनुसन्धान अपेक्षित है।

द्वारा—श्री शम्भुनाथ श्रीवास्तव,
नई बस्ती, हरपुर, बलिया

संकर हिन्दी

□

डॉ० रविशेखर वर्मा

संकर मक्का और संकर बाजरा की भाँति देश में संकर संस्कृति भी पनप रही है। संस्कृति का प्रमुख उपादान होने के कारण भाषा भी संकरण की इस प्रवृत्ति से बची नहीं रह सकी है। अब ज़रा निम्नलिखित उद्धरणों पर विचार कीजिए—

(१) ठीक है, तू पहाड़ घूम आ, पहले कभी गई भी नहीं है—**इट विल बी ए गुड चेन्ज फॉर यू,** पर सुरंगमा, **यू हैव टू बी वेरी केअरफुल**।—शिवानी कृत सुरंगमा (पृ० १३८)

(२) किसी भी अस्पताल के प्रशासक के लिए इन तीन चीजों का होना जरूरी है। यह है **कन्सेप्च्युअल स्किल, टेक्नीकल स्किल** और **ह्यूमन स्किल**। इसमें तीसरा **स्किल** यानी **ह्यूमन स्किल** सबसे ज्यादा जरूरी है।—कादम्बिनी, अप्रैल, १९८० (पृ० ५३)

(३) मेरी **फ़र्म** में **टेक्नीकल वर्क** होता है। **नॉन-टेक्नीकल** का **स्टार्टिंग ग्रेड** सिर्फ दो सौ रुपया है।—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, वर्ष ३०, अंक २६ (पृ० १७)

लिखित हिन्दी के ये उद्धरण क्रमशः एक उपन्यास, एक लेख और एक कहानी से लिए गए हैं। इनमें से पहले उद्धरण के २८ शब्दों में से १४, दूसरे के ३३ शब्दों में से १०, और तीसरे के १६ शब्दों में से ६ अँग्रेज़ी के हैं। इस प्रकार इन उद्धरणों में ३० प्रतिशत से लेकर ५० प्रतिशत तक अँग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग हुआ है। बोलचाल की भाषा में तो अँग्रेज़ी शब्दों का प्रतिशत और भी अधिक होता है। डॉक्टर कैलाशचन्द्र भाटिया ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी में अँग्रेज़ी के आगत शब्दों का भाषातात्त्विक अध्ययन' के पृष्ठ ५४-५७ पर सामान्य बोलचाल की हिन्दी के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें अंग्रेज़ी शब्दों का प्रतिशत ७४ तक है।

अँग्रेज़ी शब्दों के मुक्त प्रयोग के कारण हिन्दी में एक नई उपभाषा अथवा शैली का विकास हो रहा है। इस भाषा-शैली को भली-भाँति समझने के लिए अँग्रेज़ी का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है। निम्नलिखित उद्धरण देखिये—

(१) न्यूटन ने **चेन्ज ऑफ़ मोमेन्टम** के बदले **चेन्ज ऑफ़ मोशन** का प्रयोग किया था। उसके अनुसार **मैटर** का **मोशन** उसकी वह **क्वान्टिटी** है जो **मैटर** के **मास** और उसकी **विलोसिटी** से उत्पन्न होती है, यानि **मास** और **विलोसिटी** का **मल्टीप्लीकेशन** ही **क्वान्टिटी ऑफ़ मोशन** का **मेजरमेंट** है। **ड्राइविंग फ़ोर्स एफ़र्ट** या **पावर** कहलाता है, **वर्किंग फ़ोर्स वेट, रिजिस्टेन्स** या **लोड**।

(२) **ऑलफ़ैक्टरी एरिया सेरिब्रल कॉरटेक्स** के **ऑडिटरी एरिआ** के समीप पड़ता है, पर **मस्टेटरी एरिआ का लोकेलाइजेशन** संभव नहीं है **ऑडिटरी एरिआ टेम्पोरल लोब** क

ऊपरी भाग में है। जब इनर ईयर में पाये जाने वाले रिसेप्टर सेल्स के मिथ्य इम्पल्सेज टेम्पोरल लोब्स के ऑडिटरी एरिया में जाते हैं तो सेन्सेशन ऑफ हिअरिंग होती है।[1]

भला बताइए, केवल हिन्दी जानने वाला व्यक्ति इन उद्धरणों से क्या समझेगा। हाँ, यदि अँग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों के स्थान पर हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया जाता तो विज्ञान न जानने वाला व्यक्ति भी इनका कुछ न कुछ तात्पर्य तो समझ ही लेता।

इन उदाहरणों से हमारे दैनिक जीवन और हमारी भाषा में अँग्रेज़ी की गहरी घुसपैठ स्वतः सिद्ध हो जाती है।

हिन्दी में अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग करने की यह प्रवृत्ति नई नहीं है। सबसे पहले रींवा-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने हिन्दी नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' में अँग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया था। फ़ोर्ट विलियम कालिज, कलकत्ता में कार्यरत "भाखा मुन्शी" लल्लूलाल और सदल मिश्र ने १८१० के लगभग अपनी रचनाओं में अनेक अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया। हिन्दी मासिक 'उदन्त मार्तण्ड' और दैनिक 'सुधावर्षण' ने न केवल अँग्रेज़ी शब्दों का ही यथावत् प्रयोग किया, वरन् अनेक गृहीत अनुवादों की भी सृजना की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) और बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१८१४) तथा इनके समकालीन अन्य लेखकों की रचनाओं से अँग्रेजी शब्दों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई। इसने आधुनिक हिन्दी गद्यशैली के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इस काल की भाषा के कुछ उदाहरण देखिये—

(i) पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर
भालू चरबी चरचि लवेण्डर की लगाई फिर
नई विदेशी विद्या ही को मानत सर्वस
संस्कृत के मृदु वचन लागत इनको अति कर्कश।

(ii) रेन्ट लॉ का ग़म करें या बिल ऑफ़ इन्कम टैक्स का।
क्या करें अपना नहीं है सेन्स राइट नाऊ ए डेज़॥
फँस गई जाने हमारी किस मुसीबत में एलास।
नींद तक आती नहीं है होल नाइट नाऊ ए डेज़॥

(iii) नेशन में नेशनेलिटी जातीयता और आध्यात्मिक उन्नति स्पिरिचुआलिटी सदा चलती रहती है।

(vi) उतार-चढ़ी कम्पटीशन से तो केवल दौड़-धूप स्ट्रगल को बुरी न कहेंगे।

(v) ऋग्वेद में डान उषा को देवी कहकर उसकी कमनीय कोमल मूर्ति के वर्णन में कवित्व-प्रतिभा को छोर तक पहुँचा दिया है।

खड़ीबोली हिन्दी का स्वरूप स्थिर करने वाले पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू श्याम-सुन्दर दास भी अँग्रेज़ी के प्रभाव से अछूते न रहे। देखिये—

(i) आज लोगों ने कवित्व और पद्य को एक ही चीज समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही अन्तर भेद है जो अँग्रेजी के पोयट्री और वर्स में है।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

१ आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा राष्ट्रभाषा हिन्दी समस्याएं और पृ० ५८

(1) वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि आदि जीवनतत्त्व या प्राणरस प्रोटोप्लाज्म का एक टुकड़ा जिसे हम आदिजीव या जीवाणु प्रोटोजुआ कह सकते हैं, पहले अपने सब अंगों से कार्य करता है ।

—श्यामसुन्दर दास

इन भाषा-शैलियों के विस्तार में जाए बिना भी इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी की औपचारिक साहित्यिक शैली में अँग्रेज़ी शब्दों का कम से कम प्रयोग होता है, परन्तु वार्तालाप तथा अन्य अनौपचारिक शैलियों में इन शब्दों की संख्या बढ़ती जाती है ।

विद्यार्थियों, दफ्तर के बाबुओं तथा अन्य नौकरी-पेशा लोगों के द्वारा कुछ प्राविधिक/प्रशासनिक विषयों पर विचार-विमर्श करते समय प्रयुक्त इस भाषा को ही 'संकर हिन्दी' कहा गया है । हिन्दी भाषा-भाषी इस मिली-जुली भाषा का प्रयोग मुख्यतः बोलचाल या प्रत्यक्ष सम्पर्क के समय ही करते हैं । इसमें वाक्य-विन्यास तो हिन्दी का रहता है, पर बीच-बीच में अँग्रेज़ी शब्द, वाक्यांश और कभी-कभी पूर्ण वाक्य भी जड़ दिये जाते हैं । आज भी हमारे देश में अँग्रेज़ी सांस्कृतिक श्रेष्ठता का प्रतीक मानी जाती है और कुछ परिस्थितियों में एकमात्र इसी का प्रयोग समीचीन समझा जाता है । अतः हिन्दी बोलचाल को अँग्रेज़ी शब्दावली से अलंकृत करना स्वाभाविक ही जान पड़ता है । सम्भव है, विचाराधीन विषय से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करने से वक्ता को अपना मन्तव्य अधिक सरलता एवं सक्षमता से स्पष्ट करने में सहायता मिलती हो ।

शिक्षा का माध्यम अँग्रेज़ी होने के कारण भी अनेक विषयों पर विचार-विमर्श करते समय अँग्रेज़ी शब्दावली का प्रयोग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है । प्रशासन, सेना, शिक्षा, चिकित्सा, खेल-कूद और युवा संस्कृति के क्षेत्रों में अँग्रेज़ी की प्रधानता है । वक्ता द्वारा प्रयुक्त अँग्रेज़ी शब्दों की संख्या उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि और शिक्षा के साथ-साथ अँग्रेज़ी के प्रति उसकी भावना पर भी निर्भर होती है । कुछ हिन्दी भाषा-भाषी तो वार्तालाप में केवल हिन्दी के प्रयोग को अशिक्षा एवं अशिष्टता का द्योतक मानते हैं । अँग्रेज़ी के प्रति विशेष लगाव होने के कारण वे अधिकाधिक अँग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग करने में गर्व का अनुभव करते हैं । कभी-कभी प्रसंगानुकूल उपयुक्त हिन्दी शब्द न खोज पाने पर भी वक्ता को अँग्रेज़ी शब्द का सहारा लेना पड़ता है । इस सम्बन्ध में डॉक्टर रामविलास शर्मा का कथन द्रष्टव्य है—

"आप यह न समझें कि पारिभाषिक शब्दों के अभाव के कारण वे ऐसा करते हैं । उनके बच्चे बोलना सीखते हैं पापा, डैडी, मम्मी, अंकल, आंटी जैसे पारिभाषिक शब्दों के ज्ञान के साथ । 'जरा फ़ादर को रिसीव करने जा रहा हूँ ।' 'उसका रिमार्क ऐसा सिली था कि माई ब्लड बिगन टु बायल', 'आजकल आप पोलिटिकल एक्टिविटी से इतने इनडिफ़रेन्ट क्यों रहते हैं', 'एजूकेशन का स्टैण्डर्ड इतना गिर गया गया है कि आर्डिनरी एप्लीकेशन लिखने में एम० ए० पास लोग मिस्टेक करते हैं'—इस तरह के वाक्य उत्तर भारत के अनेक शहरों में आप सुन सकते हैं । मानसिक शिथिलता, अँग्रेज़ी शब्दों का मोह, अपनी भाषा के प्रति अवज्ञासूचक दृष्टिकोण —इन कारणों से इस तरह के भोंडे वाक्यों की रचना होती है ।"

वैसे तो संकर भाषा का प्रयोग श्रोता की भाषायी क्षमता के अनुसार किया जाना चाहिए, फिर भी अपने अँग्रेज़ी-ज्ञान के प्रदर्शन द्वारा स्वयं को बुद्धिजीवी सिद्ध करने की इच्छा के वशीभूत होकर वक्ता अँग्रेज़ी शब्दों का बहुलता से प्रयोग करते हैं । इसे द्वितीय भाषा-अध्ययन की स्थिति का प्रसार भी कह सकते हैं, क्योंकि विदेशी भाषा का अध्ययन करने वाले सामान्यतया उस भाषा के शब्दों का उत्साहपूर्वक प्रयोग करने में गर्व का अनुभव करते हैं ।

हमारे देश में कुछ क्षेत्रों में प्रगति करने के लिए अँग्रेजी का द्वितीय भाषा के रूप में अध्ययन करना आवश्यक समझा जाता है। इस भाषायी सम्पर्क के फलस्वरूप हिन्दी में दूरगामी परिवर्तन होना और इसकी संरचना पर अँग्रेजी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। द्विभाषिक परिस्थितियों में सामान्यतया भाषायी अभिक्षेपण होता ही है; हिन्दी भी इस नियम का अपवाद नहीं है। संकरण को भाषायी अभिक्षेपण की परम अवस्था माना जा सकता है। अभिक्षेपण की मात्रा भाषा की वर्णनात्मक, कथ्यात्मक अथवा सम्भाषण शैलियों के अनुरूप घटती-बढ़ती रहती है।

'संकर हिन्दी' न तो निम्नस्तरीय भाषा मानी जाती है और न ही इसके प्रयोग पर किसी प्रकार की आपत्ति की जाती है; फिर भी इसे सम्मान की दृष्टि से भी नहीं देखा जाता है और इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट अवसरों एवं प्रकार्यों तक ही सीमित रहता है। अपने को आधुनिक सिद्ध करने की इच्छा के वशीभूत होकर ही वक्ता इस भाषा का प्रयोग करता है। इस भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए यही इच्छा मूलतः उत्तरदायी है।

'संकर हिन्दी' के शास्त्रीय विवेचन के पश्चात् हम इतना ही कहना चाहेंगे कि हमें अपनी भाषा के जातीय स्वरूप की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसमें अंधाधुन्ध अँग्रेजी शब्दों की भरती हमारे राष्ट्रीय सम्मान के विपरीत है। अँग्रेजी की मानसिक दासता से जितना शीघ्र छुटकारा पा ले, उतना ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा।

डी-२१, स्टाफ कॉलोनी,
मालवीय नगर, जयपुर-३०२०१७

सामाजिक बोली और भाषा-विकास : नीलामी प्रयुक्ति के संदर्भ में

□

डॉ० उषा माथुर

नित्य बोलचाल में 'भाषा' और 'बोली' दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न संदर्भों और विविध प्रसंगों में होता आ रहा है। कभी 'भाषा' के लिए 'बोली' तो कभी 'बोली' को 'भाषा' कह दिया जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास से विदित होता है कि अट्ठारवीं शती के अन्त और उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में ब्रजभाषा साहित्य की प्रमुख भाषा थी। खड़ीबोली हिन्दी साहित्य की प्रधान भाषा बनने का प्रयास कर रही थी। क्रमश: उसे यह गौरव प्राप्त हुआ और वह 'भाषा' की परिभाषा में प्रविष्ट हो गई। आज ब्रजभाषा 'भाषा' न हो 'बोली' मात्र बन कर रह गई है। 'ब्रज-भाषा' शब्द का 'भाषा' शब्द आज 'बोली' के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है और 'खड़ीबोली' का 'बोली' शब्द 'भाषा' अर्थ का द्योतक हो गया है। स्पष्ट है कि 'भाषा' और 'बोली' दोनों शब्द परस्पर एक-दूसरे के क्षेत्र में प्रविष्ट होते रहे हैं।

व्युत्पत्ति के अनुसार 'भाषा' शब्द संस्कृत धातु भाष् (√भाष्+अ+यप्) पर आधारित है। इसका अर्थ किसी विशिष्ट जनसमुदाय के द्वारा अपने भाव और विचार आदि प्रकट करने के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले शब्द तथा उनके संयोजन का व्यवस्थित क्रम है। इसका पर्याय शब्द 'जबान' और अंग्रेज़ी पर्याय 'लैंगुएज' है। इस अर्थ मे 'भाषा' का सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'वाक्' (स्पीच) से जोड़ा जा सकता है। 'बोली' शब्द का सम्बन्ध 'बोलना' क्रिया से है। 'बोल', 'बोल-चाल', 'बोलतान' आदि संज्ञाएँ भी इसी से निर्मित हैं। हिन्दी के कोश ग्रंथों में 'बोली' का सामान्य अर्थ 'बोलना' (बोलने की क्रिया या भाव) अर्थात् 'कहना' या 'मुँह से निकली हुई आवाज' है। 'कहने' के अर्थ मे 'वह बोली' या 'वे बोली' तथा 'मुँह से निकली हुई आवाज' के अन्तर्गत बच्चों और जानवरों की बोली भी समाहित होती है। 'बोली' अर्थात् 'उक्ति' या 'कथन' शब्द का यही अर्थ 'बोली मारना' मुहावरे में भी मिलता है। इसमें किसी को चिढ़ाने या लज्जित करने के लिए कोई कूट या व्यंग्य छिपा है। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' में 'बोली ठोली मारना' मुहावरे का प्रयोग इसी अर्थ को व्यक्त कर रहा है। सामान्य व्यवहार मे 'मुँहबोली' मे 'मुँह लगना' और 'बड़बोली' मुहावरे मे 'बोली' शब्द 'वाक्' से किसी भी प्रकार भिन्न नही है। इस दृष्टि से 'भाषा' के समान 'बोली' भी भाषण-ध्वनि (स्पीच) या वाक् से सम्बन्धित हो जाती है।

कोश ग्रंथों में मिलने वाले इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त 'बोली' शब्द के दो अन्य प्रयोग भी मिलते है। एक उच्चारण के अर्थ में, दूसरा 'बोली' के अर्थ में। इन दोनों के लिए अंग्रेजी मे प्रोननसिएशन और [illegible] दो शब्द क्रमश बहुप्रयुक्त होते हैं। व्यक्ति-बोली' या [illegible] म

यह 'उच्चारण' अर्थ से सम्बन्धित है। देखा गया है कि भाषा का संकीर्णतम रूप मनुष्य, हर क्षण बदलता रहता है। एक समय वह जिस प्रकार से उच्चारण करता है, दूसरे क्षण उसी शब्द का दूसरे प्रकार से उच्चारण करता है। यह अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म होता है कि स्पष्ट पता नही चलता। यह व्यक्ति-बोली (आइडियोलेक्ट) है। इसके बदलाव का मुख्य कारण समय का अंतराल है।

डाइलेक्ट के सन्दर्भ मे 'बोली' शब्द का प्रयोग किसी विभाषा के लिए होता है जो किसी भाषा की शाखा होती है और किसी छोटे या सीमित क्षेत्र, वर्ग या समूह मे बोली जाती है। इस स्थल पर बोली का सम्बन्ध वाक् या भाषण-ध्वनि से है जिसे भाषा या लैंगुएज से पृथक् नही देखा जा सकता। 'बोली' दो प्रकार की है : एक 'भौगोलिक बोली' या 'जियो-ग्राफिकल डायलेक्ट', दूसरे 'सामाजिक बोली' या 'सोसल डायलेक्ट'। भौगोलिक बोली किसी भूखण्ड-विशेष में बोली जाने वाली बोली है। इसके बदलाव का मुख्य कारण भौगोलिक सीमाएँ या जियोग्राफिकल बाउण्ड्रीज़, यथा—नदी, पहाड़ आदि होते हैं। सामाजिक बोली से तात्पर्य एक समुदाय या समूह विशेष में बोली जाने वाली बोली है। इसके बदलाव का मुख्य आधार समुदाय और समूह विशेष होता है। एक भाषा का अंग होने पर भी इसका अपना विशिष्ट स्वरूप होता है जिसके आधार पर यह एक समुदाय से दूसरे समुदाय, एक वर्ग से दूसरे वर्ग, एक जाति से दूसरी जाति तथा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में बदलती जाती है, भले ही इसका प्रयोग करने वाले एक या अधिक भूखण्डों अथवा सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों से जुड़े क्यों न हों। इसमें संदर्भ और भूमिकागत प्रयोगों से भाषा-व्यवहार मे भेद पाए जाते है, इन्हें प्रयुक्ति कह सकते हैं। 'नीलामी प्रयुक्ति' ऐसी ही एक प्रयुक्ति है जो सामाजिक बोली के अन्तर्गत आती है। यह एक विशिष्ट व्यवसाय-प्रणाली में विक्रेता और क्रेताओं के मध्य अन्तःक्रियात्मक-व्यवहार के समय प्रयुक्त होती है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यह प्रकार्यात्मक स्तर पर नीलामी-संदर्भ में प्रयुक्त भाषा का एक विशिष्ट प्रकार है।

'बोली' शब्द के उक्त सभी अर्थों से भिन्न अर्थ नीलामी-संदर्भ मे मिलता है। यहाँ इसका विशिष्ट अर्थ दाम, मूल्य, राशि या रक़म भी है। वस्तु की बिक्री के लिए क्रेता द्वारा तथा विक्रेता के द्वारा आँका जाने वाला मूल्य ही 'बोली' है। इस अर्थ में यहाँ बोली खोलना, बोली बोलना, बोली देना, बोली लगाना, बोली से बेचना, बोली से बिकना, बोली होना, बोली लगना इत्यादि लगभग एक दर्जन संयुक्त क्रियाएँ मिलती है जिनमें 'बोली' शब्द भाषा-प्रकार (ए काइण्ड ऑफ लैंगुएज) के अर्थ मे नहीं, वरन् नामिक-संयुक्त-क्रिया के अर्थ में है। एक ही शब्द दो भिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होने पर भाषा के व्याकरण को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है, ये संयुक्त-क्रियाएँ इसका सुन्दर उदाहरण है। संदर्भ यहाँ व्याकरण के नियामक रूप में प्रभावी ढंग से प्रकट हुआ है। सामान्य बोलचाल में 'बोली देना' का अर्थ 'वचनबद्ध होना' या 'आदेश देना' है। परन्तु नीलामी परिवेश मे इसका अर्थ बिक्री की वस्तु का मूल्य/दाम/क़ीमत बोलना है। इसी प्रकार 'बोली लगाना' संयुक्त क्रिया के समानान्तर 'मुँह से फूटना', 'आवाज देना' और 'आवाज लगाना' इत्यादि संयुक्त-क्रियाएँ भी मिलती हैं। 'मुँह से फूटना' में 'फूटना' वास्तव में मुँह से कुछ मूल्य या राशि अथवा दाम आदि बोलने के अर्थ में है जिसमें खीज के भाव के साथ वक्ता के क्रोध और आक्रोश का भाव भी छिपा हुआ है। 'आवाज़ देना' और 'आवाज़ लगाना' मे 'आवाज़' ध्वनि का नहीं, वरन् दाम/मूल्य का सूचक है। इस संदर्भ मे 'बोलीदाता' सामासिक शब्द भी मिलता है जिसका अर्थ 'मूल्य लगाने' या बोली लगाने वाला क्रेता है इस प्रकार स्पष्ट है कि नीलामी-संदर्भ में प्रयुक्त होने पर बोली' शब्द

तीन भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है एक, बोली (डायलेक्ट) के अर्थ में दूसरे, कथन या कहना और तीसरे मूल्य और राशि (रक़म) के अर्थ में।

प्रस्तुत निबन्ध में नीलामी बोली के सन्दर्भ में यह देखने का प्रयास है कि कोई विशिष्ट प्रयुक्ति (रजिस्टर) किस प्रकार भाषा-विकास को प्रभावित करती है और उसे गतिमान बनाने में सहायक होती है, अर्थात् एक निश्चित परिवेश और सीमा में प्रयुक्त होकर विकसित होने वाली प्रयुक्तियाँ भाषा-विकास को विविध स्तरों पर किस प्रकार प्रभावित करती है।

यह विदित है कि सामाजिक जीवन के वर्द्धमान प्रकार्यों (फंक्शन्स) और प्रयोजनों के उपयोग के कारण इनमें शब्दार्थगत और प्रयुक्तिगत-विस्तार (कोड इलोब्रेशन) हो रहा है जो एक भाषा के एक विशिष्ट या पृथक् प्रभेदक प्रतिमान के निर्माण को प्रभावित कर रहा है जिससे भाषा में कई वार्ताशैलियाँ (स्टाइल ऑफ डिसकोर्स) मिलने लगती हैं। देखा गया है कि घटनात्मक-परिवेश (सिचुएशन एण्ड एनविरानमेण्ट), पृष्ठभूमि और परिवेश तथा संदर्भ व्यक्ति की चिंतन-क्षमता में अनेक प्रकार के परिवर्तन लाते है। सदैव कई भिन्न समूहों के द्वारा एक जनसमुदाय का निर्माण होता है। इनकी सामाजिक पहचान के चिह्नक (सोशल आइडेन्टिटी मारकर्स) कुछ स्थायी तत्त्व हैं जिनमें प्रमुख तत्त्व वय, लिंग, स्थान, वर्ग, जाति, मातृभाषा और संस्कृति है। इनमें तथा सामाजिक पहचान के अस्थायी तत्त्व यथा, शिक्षा, व्यवसाय और सामाजिक पद-प्रतिष्ठा इत्यादि वाक् या भाषण-ध्वनि (स्पीच) को उच्चारण और व्याकरण के स्तर पर भिन्न-भिन्न रूपों से प्रतिबन्धित करते हैं। सामाजिक-पहचान के स्थायी तत्त्व, यथा सामाजिक परिवेश (सोसल सिचुएशन), संदर्भ (कन्टेक्स्ट), घटना (इवेन्ट), वस्तु (आइटम), समय (टाइम) और स्थल (प्लेस) आदि निश्चयात्मक तत्त्व भी भाषा-चुनाव को प्रभावित करते है, क्योंकि कोई भी भाषा और बोली सामाजिक-सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक परिवेश में प्रयुक्त होती है। इनसे पृथक् होकर वह शून्य में नहीं रह सकती। इनके परिवर्तन के अनुसार तथा नई परिस्थितियों के अनुरूप वह अपने को ढालती जाती है। नीलाम-जैसी प्राचीन और विशिष्ट विक्रय-प्रणाली के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उत्पन्न भाषागत भेदों और विकल्पनों का निरीक्षण कर उनके अन्तः-क्रियात्मक-व्यवहार में प्रयुक्त भाषा पर प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्ष आधारित है। इसके लिए लखनऊ, बनारस, दिल्ली, हापुड़, गाज़ियाबाद शहरों से बोली के नमूनों का चयन नीलामी प्रक्रिया में अन्तः-क्रियात्मक-व्यवहार के समय टेपरिकार्ड के माध्यम से किया है। उदाहरणों को लिप्यंतरित कर प्रतिभागियों की सामाजिक-पहचान के चिह्नकों के परिप्रेक्ष्य में रखकर भाषिक इकाइयों के स्तर पर देखने का प्रयास है, क्योंकि जातीय, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि अन्तः-व्यक्तिगत चातुर्य को भिन्न स्तरों पर प्रभावित करती है। इसमें वक्ता और श्रोता की सामाजिक और सांस्कृतिक तथा जातीय पृष्ठभूमि की विविधता तथा नीलामी-विक्रय का स्थान, स्थल, समय तथा वस्तु के आकार-प्रकार और मूल्य के वैविध्य को भी समेटा है, क्योंकि कोई भी प्रयुक्ति इन तत्त्वों से प्रभावित होती है। ये सब शैलीगत बदलाव के कारण है जो भिन्न-भिन्न भाषा-शैलियों को जन्म देते हैं। इन्हे भाषिक-संरचना (लैंगुएज स्ट्रक्चर) में स्वनिमिक (फोनोलोजिकल) शब्द और अर्थ-सम्बन्धी (लेक्सिकल), व्याकरणिक और वाक्यगत (सिन्टैक्टिक) स्तरों पर देखा जा सकता है। इन भेदों को पुनः प्रयोग और प्रयोक्ता (यूज एण्ड यूजर्स) के आधार पर विश्लेषित किया जा सकता है। प्रयोग-सापेक्ष भाषिक विकल्पन विषय, माध्यम तथा शैली या प्रविधि से प्रभावित होते हैं और प्रयोक्ता-सापेक्ष विकल्पन वक्ता के सामाजिक-स्तर-भेद तथा भौगोलिक क्षेत्र-भेद के परिणाम हैं। यह दो प्रकार के है। प्रथम प्रयुक्ति-सापेक्ष-भाषिक विकल्पन (रजिस्टर-ओरिएन्टेड ... है। इसमें वक्ता एक निर्दिष्ट या किसी निश्चित परिस्थिति

में पड़कर या किसी घटना (इवेन्ट) से सम्बद्ध हो सामाजिक दबाव के निमित्त भिन्न-भाषिक-व्यवहार करता है। इसे घटना-सापेक्ष-भाषिक-विकल्पन (इवेन्ट-ओरिएन्टेड-लैंगुएज-वैरीएसन) भी कह सकते है। नीलामी-प्रयुक्ति इसी घटना-सापेक्ष-भाषिक-विकल्पन का एक उदाहरण है।

स्वनिमिक-स्तर पर प्रयुक्ति-सापेक्ष भाषिक-विकल्पन को उच्चारण-शैली (प्रोननसिएसन स्टाइल) मे अनुतान (इंटोनेशन) के स्तर पर देखा जा सकता है। अनुतान वक्ता के मनोविज्ञान से संबंधित है। यह वक्ता की सम्पूर्ण व्यवहार-पद्धति से प्रभावित होता है। यह अन्तः-क्रियात्मक-व्यवहार का महत्त्वपूर्ण अंग है। अनुतान के सुन्दर उदाहरण नीलामी-प्रयुक्ति में किसी मद की बिक्री के अन्तिम दौर में मिलते है। इस समय विक्रेता वस्तु का भाव उच्चतम मूल्य पर कर लेना चाहता है। इस संदर्भ में बोली की पुकार के बीच मे ही तीन भिन्न सुरों में बोली की स्वीकृति का संकेत करता है और एक ! दो !! तीन !!! कहते हुए वस्तु बेच देता है। आमतौर पर यहाँ दो प्रकार के सुर पैटर्न की प्रवृत्ति मिलती है। एक आरोही-अवरोही-अवरोही (राइजिंग-फालिंग-फालिंग) और दूसरी आरोही-आरोही-अवरोही (राइजिंग-राइजिंग-फालिंग)। प्रथम प्रकार मे 'एक' की तान (टोन) का सुर या नाद (पिच) सबसे ऊँचा, 'दो' का उससे नीचा और तीन का सुर और भी नीचा रहता है जो कभी सुनाई भी नहीं देता। दूसरे सुर पैटर्न मे 'एक' और 'दो' दोनों शब्दों की तान 'एक' कहने के बाद ऊँचे सुर मे होती है। परन्तु 'तीन' का सुर एकदम नीचा हो जाता है। इस अवस्था मे 'एक' कहने पर जिस प्रकार दाम चढ़ते है, उसी प्रकार 'दो' कहने से भी। सुर का ऊँचा होना दाम की चढ़त का सूचक है तो उसका नीचा होना सौदा तय होने की स्थिति का। इस प्रकार यहाँ सुर अर्थ-भेदक है। ये अभिलक्षण नीलामी-परिवेश के अतिरिक्त परिवेशों मे नहीं मिलते।

प्रयोक्ता-सापेक्ष-स्वनिमिक-विकल्पन, अर्थात् समाज-निरूपित-स्वनिमिक-छाप के आधार पर भी भाषा में स्वनिमिक भेद मिलते हैं। यह वक्ता की सामाजिक प्रतिष्ठा (सोसल स्टेटस) से सम्बन्धित है। इसमें वक्ता की क्षेत्रीय पृष्ठभूमि के अतिरिक्त उसकी व्यावसायिक कुशलता / दक्षता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसे विकल्पन भाषा में ध्वनि-लोप और ध्वनि-भेद को उत्पन्न करते हैं।

ध्वनि-लोप वाक्-वेग (स्पीच वेलोसिटी) की अवस्था में मिलता है। वाक्-वेग का कम और अधिक अनुपात, पुकारकर्ता की व्यावसायिक दक्षता, कुशलता तथा अभ्यास पर निर्भर है। देखा गया है कि पेशेवर नीलामकर्ता/पुकारकर्ता, पुकार करने के नियमित मौखिक अभ्यास के कारण तथा व्यावसायिक दक्षता के कौशल से सौदा तय करने के सन्दर्भ से वाक्-शृङ्खला की पुनरावृत्ति करता है और एक राशि (वस्तु का निश्चित होने वाला या लगने वाला संभावित मूल्य) की पुनरावृत्ति आधे मिनट में बीस से बाइस बार तक कर लेता है। इस अवधि में छियासठ, सत्तर से सौ शब्द (प्रति आधा मिनट में) बोल लेता है। इसके विपरीत सरकारी अधिकारी 'बोली' (मूल्य) की पुकार करते समय पुकार करने के अपने अनियमित अभ्यास के कारण इतने शब्दों को बोलने के लिए एक से डेढ़ मिनट तक का समय लेता है। नीलामी-प्रक्रिया में इस सन्दर्भ में वाक्-वेग अपनी चरम अवस्था पर पहुँच चुका होता है। इस अवधि में वक्तृता पर नीलामकर्ता का ही पूरा अधिकार भी होता है। वक्तृता के क्रम को भंग न होने देने के मूल मे राशि या मूल्य बढ़वाने की मनोवृत्ति प्रधान रहती है। इस समय श्रोता-पक्ष मन्त्र-मुग्ध-सा हो सुनता रहता है। स्पष्ट है कि वाक्-वेग की गति श्रोता-पक्ष की चिन्तन-क्षमता को प्रभावित करती है।

वाक्-वेग अभ्यास पर निर्भर होता है। अभ्यास मे एक ही शब्द की बार बार आवृत्ति के परिणामस्वरूप कुछ अक्षरों पर बलात्मक होता चलता है जिससे उन अक्षरो के पूर्ववर्ती

अक्षर बलाघातहीन हो जाते हैं जो प्राय सुनाई भी नही पड़ते और समयान्तर पर भाषा-परिवर्तन के कारण बनते हैं। अर्थात् उच्चारण का अभ्यास और अभ्यास की निरन्तरता, आवृत्ति और बलाघात सम्मिलित रूप से भाषा-विकास को प्रभावित करते हैं। व्यावसायिक पुकार में वाक्-वेग के साथ 'अट्ठारा' शब्द की चार बार पुनरावृत्ति करने पर पाँचवीं बार में उच्चारण 'अठारा' हो जाता है और 'अठारा' रूप की चार बार आवृत्ति करने पर उच्चारण मे केवल 'ठारा' शेष रह जाता है। यहाँ क्रमशः अल्पप्राण ध्वनि 'ट' तथा फिर 'अ' का लोप 'ठ' ध्वनि पर बलाघात के कारण है। अल्पप्राण ध्वनियों पर बलाघात होने के कारण ये ध्वनियाँ सुनाई नही पड़ती। अवधी-भाषी क्षेत्र लखनऊ शहर से साज-सामान के नीलामकर्ता के यहाँ नियुक्त व्यावसायिक पुकारकर्ता (या हाक लगाने वाला) की एक हाक से ऐसा एक उदाहरण निम्नलिखित है—

पुकारकर्ता—अट्ठारा अट्ठारा अट्ठारा अट्ठारा अठारा अठारा रुपया एक दो, अठारा अठारा ठारा ठारा ठारा रुपया बहुत बढ़िया चीज है।

(लखनऊ क्षेत्र, साज-सामान का नीलाम)

वाक्-वेग मे अन्तः-व्यक्तिगत वाक्-चातुर्य की मनोवृत्ति भी कार्य करती है। ध्वन्यात्मक समानता रखने वाले शब्दो में इसे विशेष प्रभावी ढंग से देखा जा सकता है। ऐसे उदाहरण अत्यन्त गतिशील सामाजिक संगठन वाले शहर दिल्ली में व्यावसायिक पुकारकर्ताओं के उच्चारण में देखे गए। वाक्-कौशल से किस प्रकार 'दो' शब्द के साथ 'नौ' शब्द मे ध्वन्यात्मक समानता, वस्तु का मूल्य बढ़ाने में सहायक होती है, यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट है। यहाँ क्रेता वस्तु का मूल्य दो सौ रुपये आँकता है, परन्तु नीलामकर्ता ने वाक्-वेग में राशि की आवृत्ति करते समय 'दो' के स्थान पर 'नौ' रुपये की पुकार लगानी आरम्भ कर दी। ऐसी स्थिति में क्रेता वर्ग केवल 'हुँ' करके रह जाता है। परस्पर क्रियात्मक-व्यवहार में वाक्-कौशल के ऐसे उदाहरण प्रायः वैयक्तिक या अशासकीय नीलामकर्ताओ तथा अत्यन्त गतिशील सामाजिक-संगठन वाले शहरों मे आम है। उदाहरण—

क्रेता—तीन हजार रुपया।
पुकारकर्ता—तीन हज़ार रुपये।
क्रेता—इक्तीस सौ रुपया।
पुकारकर्ता—तीन हजार रुपये।
क्रेता—दो सौ।
पुकारकर्ता—नौ सौ।
क्रेता—पाँच हज़ार जी।
पुकारकर्ता—पाँच हजार रुपया।

(दिल्ली क्षेत्र, होजरी का नीलाम)

इस स्थान के व्यावसायिक पुकारकर्ता की भाषण-ध्वनि से एक उदाहरण और भी उद्धृत है। यहाँ वक्ता पंजाबी-भाषी है और खड़ीबोली-क्षेत्र दिल्ली का निवासी है। पुकार या हाक लगाते समय वाक्-वेग मे 'बाइस हज़ार' शब्द की दो बार आवृत्ति में गति बढ़ाता जाता है जिससे 'बाइस' शब्द के अन्तिम ध्वनि 'स' तथा 'हज़ार' शब्द की आरम्भिक ध्वनि 'ह' लुप्त होती जाती हैं और श्वास-वेग में उच्चारण 'बाइज़ार' शेष रह जाता है। इस क्रम में वस्तु का मूल्य बढ़कर कब तेईस हज़ार हो गया, क्रेतावर्ग और श्रोतावर्ग को इसका तनिक आभास नहीं हो पाता। उदाहरण—

पुकारकर्ता—बाइस हज़ार एक सौ बाइस हज़ार एक सौ बाइज़ार दो सौ बाइज़ार नौ सौ बाइज़ार पाँच सौ बाइज़ार चार सौ बाइज़ार बाइज़ार पाँच सौ बाइज़ार छे

सौ बाइजार सात सौ बाइज़ार सात सौ बाइज़ार बाइज़ार आठ सौ बाइज़ार
आठ सौ तेइस हज़ार। (दिल्ली क्षेत्र, होज़री का नीलाम)

उक्त उदाहरणों से निष्कर्ष निकलता है कि व्यावसायिक-दक्षता और अन्तः-व्यक्तिगत-वाक्-चातुर्य भाषण-ध्वनि को प्रभावित करता है जिसके परिणामस्वरूप उच्चारण में भी व्यावसायिकता की मानसिकता झलकने लगती है। वह किसी भी व्यावसायिक बोली (ट्रेड डायलेक्ट) को स्वनिमिक स्तर पर परिवर्तित करती चलती है और आगे चलकर भाषा-विकास का कारण बनती है।

प्रयोग-सापेक्ष-शब्दार्थगत-विकल्पन भी भाषा-विकास में सहायक होते हैं। नीलामी प्रयुक्ति में कुछ शब्दों के आधार पर इसका प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान होता है। 'बोली' शब्द के अतिरिक्त 'एक', 'दो' और 'तीन' शब्द इसके प्रमुख उदाहरण है। भाषा-व्यवहार के सामान्य सन्दर्भों में यह संख्या-वाचक विशेषण हैं। नीलामी परिवेश में 'एक' वस्तु बिकने की प्रक्रिया आरम्भ होने का अर्थात् बिक्री आरम्भ होने पर, मूल्य के खुलासे के प्रति क्रेताओं को सचेत करने का सूचक है। इससे यह भी विदित होता है कि वस्तु एक निश्चित मूल्य में बिकने की प्रक्रिया में आ गई है। 'दो' संख्या शब्द, पुकार या हाक समाप्ति की ओर अग्रसर होने तथा क्रेताओं को राशि बढ़ाने का एक अवसर और देने का सूचक है तथा 'तीन' उच्चतम राशि स्वीकृत होने और बिक्री की समाप्ति का सूचक है। ज्ञात है कि खेल के सन्दर्भ में 'तीन' शब्द कार्य-आरम्भ की सूचना देता है। 'एक', 'दो' शब्द क्रमशः प्रेरणा और उत्तेजना जैसे संवेगों के संकेतक भी है। नीलामी सन्दर्भ में देखा गया है कि दाम तय करने के प्रसंग में अन्तिम दौर में 'एक' और 'दो' कहते समय क्रेताओं में यह उत्कंठा प्रबल हो उठती है कि बोली की पुकार आगे को भी जाएगी या नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि संख्यावाचक ये शब्द यहाँ संवेगों के उत्तेजक भी हैं। नीलामी-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग विशिष्ट प्रकार की उत्कंठा, उत्तेजना, असमंजस और जिज्ञासा है। यह दोनों पक्षों में एकसमान रहती है। स्पष्ट है कि सन्दर्भ अर्थ-भेदक होने के साथ शब्दों की व्याकरणिक कोटि-निर्धारण में भी सहायक होता है।

नीलामी-प्रयुक्ति की एक विशेषता पुराने पड़े शब्दों का प्रयोग है। इसे प्रयोक्ता-सापेक्ष-भाषिक-विकल्पन कह सकते हैं। आज विक्रय-प्रणाली में कुछ मुद्राएँ चलना से बाहर हो गई है। फलस्वरूप उनके द्योतक शब्द भी प्रचलन से या तो उठ गए है अथवा कुछ निम्न अर्थों को व्यक्त करने लगे हैं। 'आना', 'इकन्नी', 'दुअन्नी', 'चवन्नी', 'अठन्नी' शब्द इसी प्रकार के हैं। आज दशमलव प्रणाली का प्रचलन हो जाने पर इन सिक्कों का प्रयोग समाप्त हो चुका है। इनका स्थान 'पैसा' शब्द ने ले लिया है। परन्तु नीलामी सन्दर्भ में मण्डी और टाल जैसे स्थिर विक्रय-स्थलों पर इन सभी शब्दों का प्रयोग भाव तय करने के प्रसंग में धड़ल्ले से हो रहा है। इनके साथ कौड़ी, छदाम, दमड़ी आदि प्राचीन शब्द भी इन्हीं स्थानों पर भाषा-व्यवहार में सुरक्षित हैं। परन्तु आज ये मुद्रा के अर्थ में नहीं, वरन् मूल्य-निर्धारण के प्रसंग में कुछ हीन अर्थ को व्यक्त कर रहे है और मुहावरों में प्रयुक्त हो रहे हैं। इन मुहावरों का प्रयोग व्यंग्य और चिड़चिड़ाहट जैसे मनोभावों को व्यक्त करते समय होता है। इसी प्रकार 'माल' शब्द सामान्य सन्दर्भ में साग-सब्जी के अतिरिक्त सभी प्रकार की वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु नीलामी-सन्दर्भ में साज-सामान हो, चाहे साग-सब्जी और फल-फूल, सभी वस्तुओं के लिए बहुप्रचलित हो चुका है।

इन उदाहरणों से निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक स्थिरता और गतिशीलता दोनों भाषा के विकास को प्रभावित करती हैं और भाषा की सम्पन्नता में सहायक होती हैं इसमें एक ओर तो नए-नए प्रतिमान भाषा में मिलने लगते हैं तो दूसरी ओर प्राचीन रूप एक निश्चित परिवेश में

प्रचलन में बने रहते हैं। यह भी पता चलता है कि जब वस्तु के साथ-साथ कोई शब्द भाषा में प्रचलन से उठ जाता है तो अपने समानार्थी शब्दों के आ जाने पर हीनता और तुच्छता के भावों को व्यक्त करने लगते हैं।

सामाजिक गतिशीलता जहाँ नए-नए सामाजिक शिष्टाचार सिखाती है, वहीं भाषा-विकास को भी प्रभावित करती है। एक परिवेश से दूसरे परिवेश, एक स्थान से दूसरे स्थान, एक समुदाय से दूसरे समुदाय के आधार पर व्यक्ति भाषा-चुनाव का मापदण्ड बदलता रहता है। सामाजिक दबाव भी भाषा-बदलाव का एक कारण होता है। सामाजिक स्थितियाँ भाषायी भेदों के चुनाव की मानदण्ड होती हैं। व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर उत्पन्न ऐसे भेद भाषा की विभिन्न प्रसंगजन्य शैलियों (सिचुएशनल वेराइटीज ऑफ लैंगुएज) का निर्माण करती हैं। इन्हें संबोधन में विशेष रूप से देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि नीलाम एक ऐसा व्यवसाय है कि इसमें दोनों पक्ष के प्रतिभागियों के सम्बन्ध बड़े औपचारिक मिलते हैं। यह प्रतिष्ठा-चिह्नित व्यवसाय न होने के कारण यहाँ व्यक्ति के पद या व्यवसाय के अनुसार ऐसे संबोधन नहीं मिलते, जैसे कोर्ट, चिकित्सा या शिक्षण संस्थाओं में दिए जाते हैं। नीलामी-प्रयुक्ति में प्राय: कोई संबोधन नहीं होता। इसमें व्यक्तिगत स्तर पर नाम संज्ञाएँ नहीं मिलतीं। परन्तु बन्धुतावाची शब्दावली या सगोत्र सम्बन्धी शब्द बन्धुत्वेतर प्रसंगों में प्रयोग होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सगोत्र सम्बन्धी शब्द चलनशील होते हैं। इनके माध्यम से प्रतिभागी परस्पर एक सांस्कृतिक परम्परा से जुड़े रहना चाहते हैं। इनमें नाते-रिश्ते के शब्द, यथा—काका, ताऊ, चाचे, पाप्पाजी, भाई, भाई साहब इत्यादि प्रमुख हैं। साज-सामान का नीलाम चाहे सरकारी हो अथवा व्यक्तिगत, 'साहब', 'जनाब' आदि आम-संबोधन है। प्रतिभागी चाहे जिस प्रतिष्ठित-वर्ग का हो, नीलामकर्ता के द्वारा ऐसे संबोधन सबके लिए एक-समान है। एक स्थान पर 'लौंडे' शब्द भी सुना गया। ये सब शब्द पुल्लिग हैं। इनका प्रयोग नीलामी खुलासे में तथा नीलामी-प्रक्रिया के मध्य मूल्य या राशि बढ़ाते समय तथा बोली की पुकार समाप्त करते समय होता है। उदाहरणार्थ—

आरम्भ में,

पुकारकर्ता—देखिए साहब।

पुकारकर्ता—बोलिए साहब।

अन्त में,

पुकारकर्ता—कोई सा'ब बोल रहे हैं।

नामबोधक शब्दों के अन्त में प्रयुक्त होने वाला 'जी' शब्द आज संबोधन का रूप ग्रहण करता जा रहा है। प्रस्तुत अध्ययन के दौरान इसका प्रयोग प्रमुख रूप से दिल्ली क्षेत्र में सुना गया। उदाहरणार्थ—

पुकारकर्ता—और बोलो जी !

नीलाम में स्त्रियाँ अधिक भाग नहीं लेती। अत: इसमें स्त्रियों के संबोधनों का अभाव रहता है। कुछ शब्द मण्डी और टाल ऐसे स्थिर विक्रय-स्थलों तक सीमित हैं। इनमें एक स्थान पर 'घास खोदने वाली' जैसे संबोधन शब्द भी सुने गए। सरकारी नीलामी स्थलों पर 'बहन जी' और 'मैडम' संबोधन भी प्रचलित है।

नीलामी-व्यवसाय में जाति अथवा धर्म के आधार पर दिए जाने वाले संबोधन 'पण्डित जी' तथा 'सरदार' आदि का सीमित प्रयोग सुना गया। सभी संबोधन विक्रेता पक्ष की ओर से रहते हैं। क्रेता पक्ष की ओर से संबोधनों का प्रयोग नगण्य रहता है। यहाँ अपवाद रूप से एक-दो स्थानों पर 'बाबूजी', 'भाई साहब' 'पाप्पाजी' शब्द सुने गए।

अल्प समय में 'बोली' लगाकर वस्तु खरीद लेने की उत्सुकता और उत्तेजना वाक् में प्रयत्न-लाघव का कारण होती है। ऐसे छोटे-छोटे वाक्य या संक्षिप्त वाक् (सार्ट स्पीच) व्यावसायिक विक्रेताओं तथा पेशेवर क्रेताओं में परस्पर-क्रियात्मक-व्यवहार में बोधगम्य होते हैं। परन्तु इससे इतर क्रेताओं को स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है। निम्नलिखित उदाहरण में बोली की पुकार बारह सौ दस रुपये की है। क्रेता दस रुपया मात्र उच्चारण करता है। परन्तु इस व्यवसाय में अनभ्यस्त होने के कारण कभी-कभी नीलामकर्ता को इस संक्षिप्त वाक् को समझने की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति सरकारी नीलामों में देखी गई। उदाहरणार्थ—

पुकारकर्ता—बारा सौ रुपया बारा सौ।

क्रेता—दस रुपया जी।

पुकारकर्ता—(मूक रह जाता है)

क्रेता—(पुनरावृत्ति करता है)—बारा सौ दस रुपये।

ऐसा ही एक अन्य उदाहरण वस्तु का क्रय-मूल्य बढाते समय मिलता है। जब अधिक कीमती वस्तुओं की बोली चार या अधिक अंकों में पहुँच चुकी होती है तो सम्पूर्ण अंकों को दोहराने के स्थान पर केवल बढ़ाई जाने वाली राशि की पुकार या हाक लगाकर अभीप्सित अर्थ प्राप्त कर लिया जाता है। ऐसे स्थानों पर 'राशि' के आगे बाद 'ऊपर' शब्द जोड़ दिया जाता है। जैसे, 'सौ रुपये ऊपर' या 'दस ऊपर।' ऐसे संक्षिप्त-वाक् को 'नीलामी लघु-वाक्' कह सकते है। निम्नलिखित एक उदाहरण दिल्ली के होज़री के नीलाम के हैं—

पुकारकर्ता—पन्द्रा हजार पान सौ।

क्रेता—सौ रुपए ऊपर।

पुकारकर्ता—पन्द्रा 'हजार सौ।

ऐसे संक्षिप्त-वाक् अत्यन्त गतिशील स्थानों पर नीलामी-प्रक्रिया के मध्य सुने गए। यह एक प्रकार की संप्रेषण-अवस्थाएँ हैं। यह व्यवसायजनित भाषायी-अभिलक्षणों का विकास करती है।

हर निवास,
४७, पानदरीबा, चारबाग,
लखनऊ

खड़ीबोली हिंदी का
साहित्यिक भाषा के रूप में विकास

☐

डॉ० किरण बाला

खड़ीबोली का साहित्यिक भाषा के रूप में विकास

खड़ीबोली हिंदी के प्रारम्भिक रूप तो अपभ्रंश तथा परवर्ती अपभ्रंश (जिसे 'अवहट्ठ' भी कहा गया है) में ही मिलने लगते हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के अपभ्रंश वाले अंश मे जो छन्द उद्धृत किये हैं, उनमें कई इस बात के प्रमाण है। उदाहरण के लिए—

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
(हे बहिन, भला हुआ जो मेरा कन्त मारा गया।)

आगे चलकर सिद्धों तथा नाथों मे तो इसका और भी स्पष्ट रूप मिलने लगता है—

कह्या सुण्या सूं कैसा
गगन मण्डल में ताली लागी जांग पन्थ है ऐसा। —धुंधलीमल
ऊँचा-ऊँचा पावत नहि बसइ सबरी वाली। —शबरपा
गुरुदयाल जो अग्या पाऊँ। —गोरखनाथ

ऐसे ही शारंगधर के सुभाषित ग्रंथ 'शारंगधर-पद्धति' में भी खड़ीबोली के प्रारम्भिक रूप हैं—

झूठे गर्व भरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे।—श्रीकंठ

इसके आगे यों तो अमीर खुसरो की हिंदी रचनाएँ तथा जगनिक के आल्हखण्ड में भी खड़ीबोली के रूप हैं, किन्तु इनकी कोई पुरानी पांडुलिपि प्राप्त नहीं है और ये प्रायः मौखिक परम्परा से आधुनिक-काल में प्राप्त हुई हैं, अतः इनमें प्राप्त खड़ीबोली को बहुत विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

इसके बाद उत्तरी भारत में तो कम, किन्तु दक्षिणी[1] भारत में खड़ीबोली रूपों से युक्त या खड़ीबोली की काफ़ी रचनाएँ मिलती हैं। जहाँ तक उत्तरी भारत का प्रश्न है, प्राप्त रचनाओं को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(क) वे रचनाएँ जो आद्यन्त खड़ीबोली में हैं; (ख) वे रचनाएँ जिनमें यत्र-तत्र खड़ीबोली के रूप, वाक्यांश या वाक्य आदि हैं।

---

१. इस कृति में छह प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है तथा प्रत्येक का वर्णन उसके स्थान की भाषा पश्चिमी राजस्थानी मालवी मराठी, बंगला ब्रज अवधी टक्की अर्थात् पुरानी खड़ीबोली मे किया गया है

उन रचनाओं में जो आद्यन्त खड़ीबोली में है, अर्थात् जिन्हें खड़ीबोली की रचनाएँ कहा जा सकता है, पहली कृति 'कुतुबशतक' है जिसका रचना-काल १५वीं सदी है। उदाहरण के लिए—

एक सिद्यउस देवर ढढिनी मालनी का भेष कर्‌या।
पक्कीयाँ नारिंग्या जंभीर्‌याँ भरा।

(एक दिन देवर नाम की ढढिनी ने मालिन का वेश धारण किया और उसने पकी हुई नारंगियाँ और जंभीरियाँ टोकरे में भरी।)

यह उल्लेख है कि व्याकरणिक दृष्टि से इसी भाषा की पूर्वपरम्परा में लगभग चार सौ वर्ष पूर्व रोडा कृत 'राउलवेल' (११वीं सदी की रचना) में (टक्किणी, टक्क प्रदेश की स्त्री) का वर्णन आता है जो चौदह पंक्तियों में है। उसकी एक पंक्ति है—

अंधिहि कज्‌यलु डहरा दित्ता। जो निहालि करि मयणू मत्ता।

(उस स्त्री ने आँखों मे गहरा काजल दिया जिसे देखकर कामदेव भी मत्त हो रहा है।)

तो 'राउलवेल' का यह अंश खडीबोली का प्राचीनतम प्राप्त रूप है। टक्क प्रदेश पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी हरियाणा था। कहना न होगा कि खड़ीबोली के निर्माण में कौरवी (दिल्ली-मेरठ की बोली) के साथ-साथ तत्कालीन टक्की का भी महत्त्वपूर्ण हाथ था।

कुतुबशतक के बाद की खड़ीबोली की रचनाओ मे अफ़ज़ल की 'बिकट कहानी'—'बारहमासा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसमें अकबर-कालीन खडीबोली का स्वरूप सुरक्षित है। रहीम की रचना 'मदनाष्टक' भी छोटी होते हुए भी तत्कालीन खड़ीबोली की अच्छी झलक देती है। १६वीं सदी की इन दोनों रचनाओं से एक-एक उदाहरण है—

सखी अगहन सियहरु मास आया।
सजन आए न कागज लिख पठाया। —अफ़ज़ल
दृग छकित छबीली छैलरा की छरी थी।
मणि-जटित रसीलो माधुरी मूँदरी थी। —रहीम

सत्रहवीं सदी के कवि आलम का 'सुदामा चरित्र' भी खड़ीबोली की अच्छी रचना है, यद्यपि उसमें कहीं-कहीं ब्रज के भी प्रयोग है। उसकी दो पंक्तियाँ हैं—

चले राह मे जाहि सुदामा सुकर करे अपने दिल अन्दर।
मेरे बड़े भाग के पूरन जो मेरे मोहन मुरलीधर।

अठारहवीं सदी की खड़ीबोली की रचनाओं में नागरीदास (१६९९-१७६४) के 'इश्कचमन' तथा 'सदा की माँझ' मुख्य है। इश्कचमन का छन्द है—

इस्क उसी की झलक है, ज्यों सूरज की धूप।
जहाँ इस्क तहाँ आप है, कादर नादर रूप।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, खड़ीबोली की इन कृतियों के अतिरिक्त खड़ीबोली का अंशतः प्रयोग अनेक प्राचीन तथा मध्यकालीन कवियों ने किया है जिनमे नाथों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। नाथों के अतिरिक्त हिंदी प्रदेश तथा महाराष्ट्र के अनेक संत-कवियों में खड़ीबोली के छन्द या छन्दांश मिलते है। उदाहरण के लिए—

पाडे तुमारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लेकर ठेंगा-टेंकरी तरो, लंगत-लंगत जाती थी —नामदेव

उलटिया सूर गगन भेद न किया।
नवग्रह् डंक छेद न किया। —रामानन्द

माला फेरत जुग गया गया न मन का फेर।
कर का मनका छाड दे मन का मनका फेर। —कबीर

नरहरि चंचल है मति मेरी।
कैसे भगति करूँ मै तेरी। —रैदास

साचा समरथ गुर मिल्या तिन तत दिया बताइ। —दादू

यों तो सूफ़ी काव्यधारा, कृष्ण काव्यधारा तथा रीति कवियों में भी खडीबोली के अंश मिल जाते है, किन्तु वे सारे अपवाद जैसे हैं। संतो की तरह उनमें खडीबोली के प्रयोग बहुत नहीं हैं।

यह स्थिति उत्तरी भारत की थी। दक्षिण में दक्खिनी हिंदी कही जाने वाली रचनाओ मे भी खडीबोली के प्रयोगो का बाहुल्य है। उदाहरणार्थ—

पूनम चाँद ज्यों दोनों घटने लगे।
सितारे अख्यां में से टुटने लगे। — वजही

मुख बात बोलता हूँ शिकवा तेरे कपट का।
तुझ नैन देखने को दिल ठाँठ कर चुका था। —वली

किसे चित्त बुलावे किसे रे जगावे।
किसे दिल तपावे किसे मन रिझावे। —कुली कुतुबशाह

यों दक्षिण में कुछ ग्रंथ ऐसे भी लिखे गए जिनकी भाषा पूरी तरह खड़ीबोली है। उदाहरण के लिए सत्रहवीं सदी उत्तरार्ध में शाह तुराब ने 'मनसमझावन' नामक काव्यग्रंथ की रचना की थी। छह-छह चरणों के एक सौ सैंतालिस छन्दों का यह ग्रंथ पूरी तरह खड़ीबोली में है। पहले छन्द का प्रारम्भिक अंश है—

सिफत कर अव्वल उसकी जो राम हैगा।
उसी राम सूँ हमको आराम हैगा।
सदा राम के नाम सूँ काम हैगा।
हमन ध्यान उसका सुबह्-शाम हैगा।
× × ×
यो परपंच का सब है झूठा पसारा।
नही है ये माया हमारा तुमारा।
अलक ओ निरंजन है सबसूँ नियारा।
शबद सूँ यो ब्रह्मांड सारा सँवारा।

अब तक तो पद्य की बात थी, खड़ीबोली गद्य की परम्परा भी कम पुरानी नहीं है। इसके प्राचीनतम नमूने नाथ-साहित्य में मिलते हैं। डॉ० बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित गोरखबानी के परिशिष्ट में गद्य के काफी उदाहरण हैं जिनमें 'अवधू बोल्या तत्त्व बिचारी', 'मेरा गुरु तीन छंद गावै', 'तत बेली लो', 'जैसा है तैसा हो रहते' अंश उसमें खड़ीबोली की वर्तमानता सिद्ध करते है। उसके बाद गंग की 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' (१५७० ई०), 'नव भाषा सकुनावली' भगवत गीता का गद्यानुवाद, प्राणनाथ (१७वी सदी) का 'मीरा जी का किस्सा', 'कुतुबशतम्' (१७वीं सदी) अनेक लोगों के पत्र, बन प्रह्लाद का 'नृसिंह तापनी उपनिषद्' का हिन्दी अनुवाद १७१९ के लगभग का आदि में होते

खड़ीबोली गद्य की परम्परा १८वीं सदी में प्रवेश करती है इस सदी के पूर्वार्द्ध में 'भाषा उपनिषद्' (१७१९), 'गीतानुवाद' (१७२३), रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योगवासिष्ठ' (१७१४) आदि प्रमुख है तो उत्तरार्ध में ईसवी खाँ की 'बिहारी सतसई की टीका' (१७५२), टोडरमल निरंजनी का 'मोक्षमार्ग प्रकाश' (१७६४), दौलतराम जैन की 'पद्मपुराण की भाषा वचनिका' (१७६६), रामजन की 'दृष्टान्तसागर की टीका' (१७८२), मथुरानाथ शुक्ल का 'पंचाग दर्शन' (१८००), मुंशी सदासुखलाल का 'सुखसागर' (१८०० के लगभग) तथा बहुत से पत्र एवं दस्तावेज आदि मुख्य है। इस प्रसंग मे एक बात उल्लेख्य है कि गद्य की इस पूरी परम्परा में खड़ीबोली गद्य पूरी तरह खड़ीबोली का ही नहीं है। उसमें न्यूनाधिक रूप से ब्रज आदि बोलियों का मिश्रण भी है। दक्खिनी में भी ज्ञात और अज्ञात लेखकों की अनेक गद्य रचनाएँ, जैसे—'रिसाले वजूदिया', 'रिसाले तवस्सुफ़' तथा 'मिराजुल आशकीन' आदि उपलब्ध है जो आज की खड़ीबोली के काफी निकट है।

इस तरह प्रारम्भ से लेकर लगभग १८०० ई० तक खड़ीबोली पद्य और गद्य दोनों की परम्पराएँ विच्छिन्न या अविच्छिन्न रूप से हिन्दी में मिलती हैं। हालांकि यह आश्चर्यजनक है कि इसी हिन्दी-क्षेत्र में मध्यकाल में अवधी और ब्रज के बहुत अच्छे साहित्यिक रूपों का विकास हुआ जो सूफ़ी और रामकाव्यधारा तथा कृष्णकाव्यधारा के रूप में दृष्टगत होता है, किन्तु उसी मध्यकाल में खड़ीबोली के जो पद्य या गद्य रूप में प्रयोग हुए, वे प्रयोग तो हुए किन्तु उनमें भाषा अपनी अभिव्यंजना में साहित्यिक ऊँचाई पर नहीं पहुँच पाई और साहित्यिक ऊँचाई पर पहुँचने के लिए उसे आधुनिक काल की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

खड़ीबोली के साहित्यिक विकास को इस प्रकार तीन कालों में रखा जा सकता है—१००० ई० से १८०० तक तो इसका प्रारम्भिक काल है जिसमे खड़ीबोली के गद्य-पद्य में प्रयोग का विकास हुआ। दूसरा काल १८०० से १९०० तक है, तब एक ओर तो खड़ीबोली के प्रयोग में विविधता आई और दूसरी ओर धीरे-धीरे उसका साहित्यिक सौंदर्य निखरा—कविता में भी और गद्य में भी। तीसरा काल १९०० से बाद का है जो खड़ीबोली का स्वर्णकाल है जिसमें कामायनी, लहर, स्कंद-गुप्त, राम की शक्तिपूजा, गोदान, बाणभट्ट की आत्मकथा, रागदरबारी, आधे-अधूरे जैसे खड़ीबोली के गौरवग्रन्थ लिखे गए हैं।

१९वीं सदी पिछली सदियों से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि से अलग है। वह दृष्टि है इस काल में आधुनिकता का उदय। इस आधुनिकता के दो अर्थ हैं। एक तो मध्यकाल अपनी जड़ता तथा रूढ़िवादिता के कारण एकरस हो चुका था, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे गत्यात्मक बनाया और आधुनिक साहित्य मनुष्य के वृहत्तर सुख-दुःख से पहली बार जुड़ा। कहना न होगा कि पूरा आदिकालीन तथा मध्यकालीन साहित्य कुछ थोड़े से सुख-दुःख को ही ध्वनित कर पाया था। आधुनिकता का दूसरा अर्थ है इहलौकिक दृष्टिकोण। पहले हमारे साहित्य का दृष्टिकोण मूलत. और मुख्यतः पारलौकिक था, अब आधुनिक काल में वह इहलोक से आकर जुड़ा और हमारा साहित्य धीरे-धीरे पृथ्वी पर उतरा।

इस आधुनिक काल मे प्रारम्भ में हमारा साहित्य दो मंजिलो से गुजरा। पहली मंजिल पुनर्जागरण की है। यह राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि के कारण संभव हुआ। दूसरी मंजिल सुधार की थी जिसमें सामाजिक सुधार के अतिरिक्त भाषा में भी सुधार आया। यों यह सुधार पूरे अर्थों में तो द्विवेदी काल में आया, किंतु इस दिशा मे चिंतन और काम १९वीं सदी के अन्तिम चरणों में भी होने लगा था। शिक्षा का पश्चिमीकरण हुआ अत पश्चिम के अनुकरण पर मे निर्धारण के लिए तरह-तरह के गद्य ग्रंथ लिखे गए।

ईसाइयों ने अपने धर्म प्रचार के लिए बाइबिल के गद्यानुवाद किये। प्रेस की स्थापना पुर्तगाली पहले ही कर चुके थे। हिंदी का पहला अखबार 'उदन्त मार्तंड' १८२६ मे कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। आठ वर्ष बाद कलकत्ते से ही दूसरा हिन्दी पत्र 'प्रजामित्र' प्रकाशित होने लगा तथा १८५४ में कलकत्ते से ही 'समाचार सुधावर्षण' का सम्पादन श्यामसुन्दर सेन करने लगे। इस तरह धीरे-धीरे पत्रकारिता के क्षेत्र में खड़ीबोली हिंदी विकसित होने लगी।

पुराने ढंग की कहानियाँ तो मध्यकाल में पद्य और गद्य में लिखी जाती थीं, किन्तु आधुनिक कहानियों की शुरुआत इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' (१८०३ अथवा १८०८), राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की 'राजा भोज का सपना' (१९वीं सदी उत्तरार्ध) तथा भारतेन्दु हरिश्चंद्र की 'एक अद्भुत स्वप्न' (१९वीं सदी उत्तरार्ध) आदि से मानी जाती है, यद्यपि ये कहानियाँ क्या भाषा, क्या भाव सभी दृष्टियों से आधुनिक कम ही हैं और आधुनिक कहानियों की वास्तविक शुरुआत बीसवीं सदी के प्रथम चरण से हुई।

जहाँ तक उपन्यासों का प्रश्न है, हिंदी ने बँगला और अँग्रेज़ी से प्रेरणा ली तथा १९वीं सदी के अन्तिम चरण में श्रद्धाराम फुलौरी, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्ण दास तथा ठाकुर जगन्मोहन सिंह आदि ने हिंदी के प्रारम्भिक उपन्यास लिखे जिनमें से मुख्य गौरीदत्त का 'देवरानी-जेठानी की कहानी' (१८६० ई०), श्रद्धाराम फुलौरी का 'भाग्यवती' (१८६६ ई०) तथा राधाकृष्ण दास का 'निःसहाय हिंदू' (१८९०) आदि है।

नाटक भारत के लिए नई विधा नहीं है, इसीलिए मध्यकाल में भी नाट्य-कृतियाँ लिखी गईं, यद्यपि वे नाटक से अधिक पद्यात्मक प्रबंध हैं। १९वीं सदी के हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार भारतेन्दु हैं। उन्होने अनूदित और मौलिक कुल सत्रह नाटकों की रचना की। अनुवादों में विद्यासुन्दर (१८६८), रत्नावली (१८६८), एवं दुर्लभ बंधु (१८८०) तथा मौलिक में भारतजननी (१८६६), 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८६३) आदि कुछ उल्लेख्य है।

निबन्ध-लेखन की दिशा में भी इस काल में काम हुआ। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास आदि इस काल के कुछ मुख्य निबन्धकार है।

हिंदी आलोचना का भी उद्भव इसी काल मे हुआ। 'हिंदी प्रदीप' उस काल का प्रसिद्ध हिंदी पत्र था जिनमे अच्छी आलोचनाएँ छपती थी। इसी तरह जीवनियाँ भी इस काल में लिखी गईं।

इस तरह साहित्यिक गद्य की भाषा के रूप में खड़ीबोली हिंदी इस काल में अपने शैशव-काल में होने के बावजूद ऐसी भाषा के रूप में निखरने लगी थी जिसका भविष्य उज्ज्वल था। भारतेन्दु के पहले हिंदी के अपने स्वरूप की पहचान नहीं हो सकी थी। भारतेन्दु ने ही उसमें अपने स्वरूप को पहचाना तथा उसका अपने गद्य-ग्रन्थों में प्रयोग करके अन्य लेखकों के लिए आदर्श उपस्थित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में ठीक ही लिखा है कि "जब भारतेन्दु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तो हिंदी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी-बोली का प्राकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया — भाषा का स्वरूप स्थिर हो गया।" भारतेन्दु ने खड़ीबोली गद्य का जो स्वरूप स्थिर किया, उसके शब्द-भंडार की चार-पाँच विशेषताएँ थीं : (क) अधिकांश शब्द वे थे जो प्रचलित थे, (ख) इनमें भी प्रधानता तद्भव शब्दों की थी, (ग) अरबी-फारसी के जो शब्द बोलचाल में प्रयुक्त होते थे, उन्हें भी उन्होंने लिया घ ऐसे ही अंग्रेजी के भी प्रचलित शब्द उन्होंने स्वीकार किए वस्तुतः उनका किसी शब्द को लेने न लेने का आधार हिंदी में प्रचलन था न कि उसका अपना या विजातीय

होना, (ङ) आवश्यक होने पर संस्कृत के तत्सम शब्द भी लेने की छूट थी, किन्तु यह आवश्यक था कि शब्द हिंदी की प्रकृति के अनुकूल हो। इस काल के सभी लेखकों ने उपर्युक्त बातों का ध्यान रखा जिसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी के शब्द-भंडार ने काफी कुछ मानक रूप ले लिया।

जहाँ तक व्याकरणिक स्वरूप का प्रश्न है, बोलचाल का प्रभाव साहित्यिक भाषा पर था। चूँकि लोग बोलने में उस्का, जिस्का, किस्का उच्चारण करते थे, अतः साहित्य में ऐसा लिखा भी जाता था। पूर्वकालिक कृदंत के 'कर' वाले रूप अभी विशेष प्रचलित नहीं थे, उनके स्थान पर 'य' वाले रूप चलते थे : दिखाय, चलाय, बुलाय।

उस काल के गद्य में कई प्रकार की शैलियों का प्रयोग होता था जिनमें से मुख्य भाव-प्रधान शैली, विचार-प्रधान शैली, वर्णनात्मक शैली, व्यंग्य-विनोद प्रधान शैली तथा वर्णनात्मक शैली हैं। कहीं-कहीं उद्बोधन शैली भी मिलती है। उस काल के गद्य में शैली के इस सामान्य विवरण के अतिरिक्त यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि वैयक्तिक शैलियों का भी विकास होने लगा था। साहित्यिक भाषा के विकास की यही चरम स्थिति होती है जब प्रत्येक साहित्यकार की शैली अलग-अलग विकसित हो जाती है, वैसे ही जैसे प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व अलग-अलग होता है। उस काल में बालकृष्ण भट्ट की शैली का खरापन, प्रतापनारायण मिश्र की शैली का मनमौजीपन, 'प्रेम-घन' की शैली की असहज काव्यात्मकता, जगन्मोहन सिंह की शैली की कलात्मकता तथा भारतेन्दु की शैली की विषयानुसार बहुरूपता इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

इस तरह अपने शैशव-काल में होने के बावजूद उस काल के साहित्यिक गद्य की भाषा काफी जीवंत, कलात्मक तथा सशक्त है।

यों तो जैसा कि ऊपर हमने देखा, कविता की भाषा के रूप में खड़ीबोली के प्रयोग की परम्परा उतनी ही पुरानी है जितनी गद्य-भाषा के रूप में, किंतु आदि और मध्य काल में कविता की मुख्य भाषा ब्रज, अवधी, राजस्थानी तथा मैथिली ही रही है। परवर्ती मध्यकाल में तो मुख्य कवि इनमें भी, अवधी आदि को छोड़कर ब्रजभाषा में ही ज्यादातर लिखते रहे तथा प्रयोग की इस लंबी परम्परा एवं अपनी कोमलता के कारण ब्रजभाषा हिंदी काव्यभाषा का जैसे पर्याय-सी बन गई। यों १८वीं सदी के पूर्वार्ध में कई कवियों ने यत्र-तत्र खड़ीबोली का प्रयोग किया, जैसे वृन्दावन जैन (जन्म १७९१ ई०) ने 'वृन्दावन विलास' में पाँच कविताएँ खड़ीबोली में लिखीं जिनमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक था, किन्तु भाषा में साहित्यिकता नहीं थी—

सब चंदना सती की व्यथा शील ने हारा।
इस शील से ही शक्ति विशल्या ने निकारा।

ऐसे ही ललितकिशोरी (जन्म १८२५ ई०) ने खड़ीबोली में लावनी तथा झूलने आदि लिखे। इनकी भाषा में साहित्यिकता कुछ अधिक है—

करन ताटंक कुंडल नभ झलकते हैं सितारे से।

१९वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली में कविता लिखने की प्रवृत्ति कुछ बढ़ी, किंतु कविता की मुख्य भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही। यों भारतेन्दु 'फूलों का गुच्छा', प्रेमघन 'मयंक-महिमा', प्रतापनारायण मिश्र और अंबिकादत्त व्यास आदि ने खड़ीबोली में लिखा, किन्तु उसकी मात्रा बहुत ज्यादा नहीं है। हाँ, आगे चलकर श्रीधर पाठक तथा बालमुकुन्द गुप्त आदि ने खड़ीबोली में अपेक्षाकृत अधिक तथा अच्छी कविताएँ लिखीं

१८वीं सदी उत्तरार्ध में कविता की भाषा के रूप में खड़ीबोली और ब्रजभाषा के प्रयोग को लेकर विवाद भी उठा। खड़ीबोली के मुख्य समर्थक श्रीधर पाठक तथा अयोध्या प्रसाद आदि थे तो ब्रज के प्रतापनारायण मिश्र तथा राधाचरण गोस्वामी आदि। कुछ कवियों (जैसे प्रेमघन तथा राधा-कृष्णदास आदि ने) बिना विवाद में पड़े दोनों ही का प्रयोग किया। रत्नाकर (१८६६-१८३२) प्राय अकेले कवि हैं जिन्होंने मात्र ब्रजभाषा में लिखा।

भारतेन्दु-युग की कविता में प्रयुक्त खड़ीबोली में साहित्यिकता कम है, किन्तु भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के एक प्रकार से बीच के कवियों, जैसे श्रीधर पाठक (१८५८-१८२८) तथा बाल-मुकुन्द गुप्त (१८६५-१८०७) में खड़ीबोली में काव्योचित सौंदर्य आने लगा था। पाठक जी का एक छंद है—

नव यौवन के सुधा-सलिल में
क्या विष-बिंदु मिलाया है।
अपनी सौख्य-वाटिका में
क्या कंटक-वृक्ष लगाया है।

समवेततः १८वीं सदी में कविता की भाषा के रूप में खड़ीबोली की कुछ मुख्य विशेषताएँ थीं—(क) भाषा कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः अभिधा-प्रधान थी। उसमें लाक्षणिकता का समुचित विकास नहीं हो पाया था। (ख) प्रचलित छंदों में खड़ीबोली के प्रयोग में गति की कठिनाई आ रही थी, अतः कवियों को कभी-कभी 'सिर' को 'सीर', 'आनंद' को 'अनंद' तथा 'छवि' को 'छबी' आदि करना पड़ता था। (ग) मानवीकरण के अभाव में उच्चारण वर्तनी पर हावी था, इसीलिए 'दरिया' के स्थान पर 'दर्या', 'करने' के स्थान पर 'कर्ने', 'जिससे' के स्थान पर 'जिस्से' जैसी गड़बड़ियाँ प्रायः मिल जाती हैं। अंबिकादत्त व्यास ने उच्चारण का अनुसरण करते हुए हल चिह्न का भी प्रयोग कर डाला—

डपट् रही है वहाँ भी लूह् की वह् लपट् कड़ी।

(घ) लोकभाषा के शब्दों के प्रयोग खूब होते थे। उसका आधार खड़ीबोली को मेरठ की बोली मानना था। इसीलिए मेरठ में प्रचलित ये (—यह) तथा पै (—पर) जैसे प्रयोग भी मिल जाते हैं। (ङ) व्याकरण की भूलें भी प्रायः मिलती हैं—

(१) झख मारेंगी, फुलवारी की लता इनों के आगे। (अम्बिकादत्त व्यास)
(२) श्रोताजन आलस खोता था। (प्रेमघन)
(३) चौक किनारे लंबी एक दलान। (अम्बिकादत्त व्यास)

(च) जहाँ तक शब्द-भंडार का प्रश्न है, आज की हिंदुस्तानी, हिंदी और उर्दू, तीनों ही प्रकार की शैलियों का प्रयोग होने लगा था—

(१) तिरछी तिउरी देख तुम्हारी क्यों कर सीर नवाऊँ।
हो तुम बड़े खबीस जानकर अनजाना बन जाऊँ। (प्रेमघन)

(२) सुसौंदर्य जो पुष्प का सत्व है।
सुआनन्द जो प्रेम का तत्व है।
कि जिसका यही सत्य आकार है।
उसे ही हमारा नमस्कार है। (प्रतापनारायण मिश्र)

(३) नामवरी पर लानत है उस नाम पे जो बदनाम न हो।
किसी काम का नहीं है, इश्क से गर नाकाम न हो।
पूजा पाखंड निरा, हरघड़ी जो उसका ध्यान नहीं।
कुफ्र है मज़हब अगर उस पर सच्चा ईमान नहीं। (प्रतापनारायण मिश्र)

(छ) परवर्ती काव्यभाषा खड़ीबोली की तुलना में उस काल के मुहावरों का प्रयोग भाषा में अधिक है। यह शायद बोलचाल का प्रभाव है।

इस तरह १९वीं सदी में विकसित होती साहित्यिक भाषा खड़ीबोली बीसवीं सदी में अपनी पूरी गरिमा से मंडित हो पाई।

ई ४/२३, मॉडल टाउन,
दिल्ली-१

हिन्दी और भारत

☐

डॉ० अनुजप्रताप सिंह

कोई भी देश तब तक पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकता है जब तक कि उसकी अपनी भाषा न हो। आज देश में अंग्रेजों की कुटिल नीति से भाषा की समस्या बढ़ती जा रही है। उत्तरी और दक्षिणी भारत का सबसे बड़ा भेदक चिह्न भाषा ही है। उर्दू, पंजाबी, बंगाली आदि की भी समस्या कम नहीं है।

जहाँ देश के भीतर और बाहर अनेक तत्त्व उसको टुकड़े-टुकड़े करने के लिए दृढ़-संकल्प हों, बीच के लोग एक होने के लिए सहमत न हों, धर्म, सम्प्रदाय, जाति, भाषा और बोली आदि का भेद राष्ट्रीयता को नष्ट करने के लिए तुला हो, वहाँ ऐसी चीज पर बल देना या प्रकाश डालना राष्ट्र और मानवता के लिए परम हितकर होगा। एकता और अखण्डता आज की कोई नयी चिड़िया नहीं है, हम अपने अतीत को देखें, अशोक और समुद्रगुप्त से अधिक आज कौन इनका पुजारी है? इस्लाम और ईसाइयत के आने के पूर्व हम एक और हमारा भारत अखण्डित था। "भारत के किसी भी कोने में जाकर देखो, उसके संकल्प को सुनो, उसके अभिषेक को देखो, उसकी धाम-यात्रा के विवरण को पढ़ो और फिर कहो तो सही, भारत की एकता कितनी पुरानी और उसकी 'भारती' कितनी सजीव है।"[1]

इस देश के इतिहास को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि जब-जब इस तरह की स्थिति उत्पन्न हुई है, तब-तब तत्कालीन भाषा के माध्यम से एकता और अखण्डता की रक्षा की गयी है--कभी यह कार्य ऋषियों ने संस्कृत से किया तो कभी जैनियों ने प्राकृत से, तो बौद्धों ने पालि से और सिद्धों तथा चारणों ने अपभ्रंश से। इसी अपभ्रंश से ही हिन्दी की उत्पत्ति है या अपभ्रंश आज का हिन्दी का प्राथमिक अथवा प्राचीन रूप है। इसका विकसित स्वरूप हमें सर्वप्रथम सिद्धों की रचनाओं में प्राप्त होता है। इसके माध्यम से सिद्धों ने ७वीं शताब्दी के आक्रमण की स्थिति में तिब्बत से लंका तक, नेपाल से अफगानिस्तान तक हठयौगिक साधना और अलख निरञ्जन की चिन्तनधारा का प्रवाहित करते रहे। ये सिद्ध देसी भाषा के वक्ता और जाति, धर्म, सम्प्रदाय और लिंग से परे हो, देश की रक्षा के लिए अविस्मरणीय कार्य किये। इस दृष्टि से सिद्ध साहित्य सदैव पूज्य रहेगा।

सिद्धों के बाद सामन्तों से सम्बन्धित चारणों की रासो नाम की रचनाएँ हमारे सामने आती हैं, इन रचनाओं का मूल स्वर भी भारतीयता की रक्षा है। भाषा की दृष्टि से यह अपभ्रंश का स्वर्णकाल रहा है। इसका समय हम १०वीं से १४वीं ई० तक मान सकते हैं। इसी समय विदेशी आक्रमण पश्चिमोत्तर प्रान्त से हुए। इन आक्रमणों में गजनवी और गोरी के सर्वाधिक हानिप्रद सिद्ध हुए। गजनवी का पहला भारतीय सिक्का लाहौर में ढला जिस पर लिखा गया कि 'अव्यक्त एक, मुहम्मद अवतार, नृपति महमूद एव अयं टंको महमूदपुरे घटे हता जिनायत

सवत्। [2] यही नहीं शेरशाह सूरी तक के बादशाही सिक्कों पर श्री हम्मीर श्री हमीर' आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। जहाँ सिद्धों का साहित्य निरञ्जन की ज्योति जगाता रहा, वहीं सामन्तों ने वैयक्तिकता, आपसी द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता को बढ़ाने का पूर्ण अवसर दिया। जब देश में राष्ट्रीय नेतृत्व की आवश्यकता थी, तब ये लोग आपसी संघर्ष में लीन थे। परिणाम यह हुआ कि विदेशी आक्रमण सफल रहे और देश में गुलामी की परम्परा चल पड़ी।

सामन्ती साहित्य के बाद १४वीं शताब्दी के साथ हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल आता है। जब जनमानस ने देख लिया कि अब हमारा कोई लौकिक शरणदाता नहीं है तो अलौकिक सत्ता या ईश्वरी सत्ता को अपने को समर्पित कर दिया। यहाँ तक आते-आते हिन्दू-मुस्लिम के बीच सद्भावना भी बढ़ने लगी थी, उनकी कट्टरता उदारता में बदलने लगी थी। ऊँची जातियों से उपेक्षित नीची जातियाँ भी अपने लिए शरण खोज रही थी। ऐसे काल में सन्तों की एक परम्परा चल पड़ी जिसमे राम-रहीम और एकेश्वरवाद की खूब चर्चा हुई। इस साहित्य ने सबको एकेश्वरवाद के नीचे बैठा दिया। इसके साथ इस धारा में सन्त, फ़क़ीर तथा राम और कृष्ण भक्त सभी थे। कुछ शैव भी थे। भारतीय इतिहास में मध्यकाल की यह सबसे बड़ी उपलब्धि रही।

कश्मीर के लल्लेश्वरी, पंजाब के नानक, उत्तर प्रदेश के कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और रहीम, रसखान, आलम, बिहार के विद्यापति, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु, असम के शंकर-देव, माधवदेव, उड़ीसा के सारलादास, राजस्थान की मीराँ, रज्जब, रैदास, गुजरात के नरसी, महाराष्ट्र के एकनाथ, रामदास, कर्नाटक के पम्प, कुमार व्यास, आन्ध्र के नन्नय, तिक्कन, एर्रन, तमिलनाडु के कम्बर या कम्बन, केरल के एड़ु, तच्छन, ये सब सन्त और भक्त कवि थे। भक्तिकाल ही एक ऐसा काल रहा कि उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम भारत एक रहा। परिणामतः रामानन्द, कबीर, रैदास और मीराँ, अकबर और बीरबल, तुलसी और रहीम एकसाथ बैठने लगे। यह भक्तिकाल था जिसमें अकबर भी चन्दन लगाता, ब्रजभाषा में कविता करता, ब्रजमण्डल में निवास करता तथा मन्दिरों की मरम्मत कराता था। "जहाँगीर ने लिखा था कि लालकलावंत बचपन से ही अकबर की सेवा में रहा था और उसने बादशाह को हिन्दीभाषा का राई-रत्ती ज्ञान करा दिया था।" [3] अकबर ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कराया। जहाँगीर को हिन्दी कविता से प्रेम था। हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर राखी बँधवाते तथा अनेक हिन्दू-पर्व मानते थे। जायसी साहित्य ने हिन्दू-प्रेम-कहानी को कहकर अपने को धन्य माना।

इस ज्ञान (निर्गुण), प्रेम (सूफ़ी), रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी भक्ति की धाराओं में सबसे प्रवहमान और व्यापक धारा रही कृष्णाश्रयी की। इसमें सबको शरण मिली। राधा और कृष्ण का प्रेम मानवीय प्रेम के रूप में परिवर्तित हो गया। "जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील-कुंजों के बीच फैले मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अन्धे कवि सूरदास की वीणा की थी।" [4]

परिस्थितियों के बदलने के कारण भक्ति की धारा में शृङ्गारिकता का प्रवेश हुआ। इस काल के साहित्यकारों को संस्कृत साहित्य में चली हुई रीतिशास्त्रीय शृङ्गार की धारा युक्तसंगत लगी और वे उसी का अनुकरण-अनुसरण करने लगे। देश में आपसी संघर्ष प्रायः कम हो गये थे। लोग

मुगलों को भक्तिकाल म ही अपने को समर्पित कर चुके थे फलत १७वीं से १८वीं विक्रमी तक श्रृङ्गार की धारा में पूरे देश ने अवगाहन किया।

१६वीं शताब्दी दुनिया के जागरण की शताब्दी है। दुनिया के साथ-साथ भारत भी जागा और राष्ट्रीयता इष्ट हो गयी। इसी समय आधुनिक काल के महारथी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने श्रीकृष्ण-भक्तिधारा को प्रवाहित करके धरती पर पुनः द्वापर लाने का प्रयास किया, पर युग ने राष्ट्रीयता को विशेष पसन्द किया। भारतेन्दु ने अपनी भक्ति-भावना की तीन धाराएँ प्रवाहित की —(१) कृष्ण-भक्ति, (२) राजभक्ति, (३) राष्ट्रभक्ति। इनमें कृष्णभक्ति और राष्ट्रभक्ति की परम्परा परवर्ती साहित्य में खूब चली।

संसार के सभी देश समाज-सुधार और मुक्ति का आन्दोलन चलाने लगे। यहाँ भी गोखले ने समाज-सुधार का नारा लगाया तो तिलक ने मुक्ति का। गांधीजी ने दोनों में समन्वय स्थापित किया। हिन्दी के लिए यह गौरव की बात रही कि यही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम के संचालन का माध्यम रही। २८ दिसम्बर, १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई जिसकी कार्यवाही प्रायः हिन्दी में हुआ करती थी। देश को आजाद कराने में किसी भी नेता से कम श्रेय हिन्दी भाषा को नहीं है। देश की सबसे व्यापक भाषा होने के कारण इसको आजादी के बाद सविधान मे राजभाषा, राष्ट्रभाषा और सम्पर्कभाषा स्वीकार किया गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३४३—३५० तक में राजभाषा के स्वरूप और विकास का पूर्ण प्राविधान है। "जिन हिन्दुओं और मुसलमानों ने मध्यकालीन धर्म की खाई को पाट दिया था और हर प्रदेश में एक संयुक्त जातीयता का विकास किया था, वे शब्दावली और लिपि के भेद को भी अवश्य दूर कर लेते और एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करते। लेकिन अँग्रेजों ने इन सम्भावनाओं को खत्म कर दिया। उन्होंने हिन्दी की दो शैलियों को दो जातियों की भाषा का स्वरूप दे दिया और भाषा को जातीय उत्पीड़न का साधन बनाया।"[५] वैसे उत्पत्ति और स्वरूप की दृष्टि से विचार किया जाय तो उर्दू मात्र हिन्दी की एक शैली है जो नस्तालीक लिपि में लिखी जाती है। अँग्रेजों ने इसको इस्लाम के साथ जोड़ने का अथक प्रयास किया और बहुत हद तक सफल भी रहे। देश के विभाजन मे उर्दू का योगदान रहा है। मात्र भेद उत्पन्न करने के लिए अँग्रेजो ने मुसलमानों को इसे धार्मिक भाषा बताया, नहीं तो उनका कोई भी मूल धार्मिक ग्रन्थ उर्दू भाषा में नहीं है; सभी अरबी और फ़ारसी मे हैं। इधर उर्दू की कुछ पुस्तकें नागरी लिपि में छपी हैं जो उर्दू (नस्तालीक लिपि) से अधिक बिक रही हैं। वास्तव मे देखा जाय तो यह भाषा लिपि और साम्प्रदायिकता के बल पर जिन्दा है, वैसे भारत के अधिकांश मुसलमान हिन्दी जानते है। जब ख्वाजा हसन निजामी ने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में कुर्आन का अनुवाद किया तो हिन्दुओं से अधिक मुसलमान प्रसन्न हुए, क्योंकि मुसलमानों का बड़ा हिस्सा अरबी, फ़ारसी क्या उर्दू तक नहीं जानता। चूंकि फ़ारसी इस देश मे ६०० वर्षों तक राजभाषा के पद पर रही, इससे उसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू के प्रति मुसलमान अधिक झुके, परन्तु अब तो वह बात भी नहीं रह गयी।

उर्दू के बाद आज हिन्दी के समक्ष अंग्रेजी भाषा है। फ़ारसी के बाद इसी को राजभाषा होने का गौरव मिला जो व्यवहार में आज तक विद्यमान है। अँग्रेजी मिशनरियों ने भी इसका खूब प्रचार-प्रसार किया। आज भी अँग्रेजी माध्यम से चलने वाले विद्यालयों मे जब लड़के मातृभाषा हिन्दी बोल देते हैं, तो वे पीटे जाते है; इससे बड़ा देश का और क्या दुर्भाग्य हो सकता है। अँग्रेजी माध्यम से चलने वाले विद्यालयों मे अपने बच्चों को पढ़ाना हिन्दी का ही नहीं, बल्कि भारतीयता का भी सभ्य विरोध है। "यदि स्वराज्य अंग्रेजी पढे भारतवासियों का है और उनके लिए है, तो

सम्पर्कभाषा अँग्रेजी होगी, निरक्षर स्त्रियों, सताए हुए अछूतो के लिए है तो सम्पर्कभाषा केवल हिन्दी होगी।"[६] इसी तरह अंग्रेजी-भक्तों की चिन्ता न करके डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने १९४८ ई० के पैरिस में सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय भाषाविद्-सम्मेलन में यह प्रस्ताव रखा था कि "संसार में किसी भाषा को समझने-बोलने वालों के विचार से हिन्दी का नम्बर तीसरा है, इसलिए अँग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, रूसी और चीनी के साथ हिन्दी को भी राष्ट्रसंघ की 'आफ़िशल' भाषा मंजूर करना चाहिए।"[७] महात्मा गांधी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २४वे अधिवेशन मे (इन्दौर १९९२ वि०) सभापति पद से कहा था कि "दुनिया से कह दो, गांधी अँग्रेजी नही जानता।" इसी तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने १९४२ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर के अधिवेशन में साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से कहा था कि "मेरी आँखें वह दिन देखने को तरस रही हैं जब हिन्दी विश्वभाषा के आसन पर प्रतिष्ठित होगी।" इसके साथ ही शुक्ल जी का हिन्दी-तप सदैव स्मरणीय रहेगा। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में—"इस तरह शुक्ल जी ने हिन्दी की अपनी प्रकृति को पहचानना सिखाया, अँग्रेजी, संस्कृत या फ़ारसी की बदौलत हिन्दी का लेखक बनने से सावधान किया, अँग्रेजी के गलत रुझानों से बचते हुए उसकी प्रगतिशील धारा से सम्बन्ध जोड़ना सिखाया। भारत की दूसरी भाषाओं से नक़ल न करके उनकी उपयोगी विशेषताओं से सीखने का मार्ग दिखाया और सबसे बड़ा काम यह किया कि अंग्रेजी भाषा और संस्कृत के दबाव के आड़े आकर हिन्दी के जातीय सम्मान की रक्षा की और अपनी रचनाओं से उसे और भी समृद्ध किया।"[८]

ऐसे लोगो के प्रयास से ही हिन्दी विश्व में प्रचलित और प्रसारित हो रही है। अनेक विदेशी सस्थाएँ तक सेवारत है। मारीशस तो इनमें सबसे आगे है। ५००० से अधिक वहाँ हिन्दी स्कूल चल रहे है तथा अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही है। इसी तरह हिन्दी यूनेस्को की भी भाषा बन चुकी है। आज विश्व के १०० से अधिक विश्वविद्यालयों में इसका पठन-पाठन चल रहा है—जिनमे ३३ तो मात्र अमेरिका मे है। इंगलैण्ड में भी यार्क, लन्दन और कैम्ब्रिज में हिन्दी की व्यवस्था है। विनयपत्रिका, कवितावली और मानस का अनेक विदेशी भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है। जर्मनी मे हिन्दी का कार्य बड़ी प्रगति पर है। संसार में आज ३० देश ऐसे हैं जहाँ इसका प्रचार-प्रसार सभी स्तरों पर चल रहा है—(१) अर्हेंतीनात, (२) आस्ट्रेलिया, (३) आस्ट्रिया, (४) बेल्जियम, (५) बलगारिया, (६) कनाडा, (७) चीन, (८) चैकोस्लोवाकिया, (९) डेनमार्क, (१०) जर्मन संघीय गणराज्य, (११) फिनलैण्ड, (१२) फ्रांस, (१३) जर्मन जनवादी गणराज्य, (१४) हंगरी, (१५) इटली, (१६) जापान, (१७) मेक्सिको, (१८) नेपाल, (१९) नीदरलैण्ड, (२०) न्यूजीलैण्ड, (२१) नार्वे, (२२) पोलैण्ड, (२३) कोरिया गणराज्य, (२४) रूमानिया, (२५) श्रीलंका, (२६) स्वीडन, (२७) ब्रिटेन, (२८) अमेरिका, (२९) सोवियत रूस, (३०) युगोस्लाविया।

आज चीनी भाषा के बाद हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो इतनी बड़ी जनसंख्या की भाषा है। ससार के सबसे बड़े गणराज्य की सबसे सम्पन्न भाषा है। महर्षि दयानन्द के शब्दों मे "हिन्दी द्वारा सारे देश को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है।" राजगोपालाचारी, नेता सुभाषचन्द्र बोस और जाकिर हुसेन ने हिन्दी का ज्ञान सबके लिए अनिवार्य बताया है। सन्त-परम्परा के राजनीतिज्ञो म गण्यमान श्री लालबहादुर शास्त्री के शब्दों में "हिन्दी पढ़ना हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है।"

यह भारतीय आत्मा की ध्वनि, प्रेम की भाषा, राष्ट्रीय एकता का सूत्र, अखण्डता की देवी और आजादी की ललकार है। यदि हम इसके लिए सक्रिय रहें तो हुतात्मा गणेशशङ्कर विद्यार्थी क शब्दों म एक दिन हिन्दी एशिया में नहीं विश्व की पचायत में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगी[९]

आज देश में हिन्दी के साथ सबसे बड़ी समस्या प्रान्तीय भाषाओं की है। देश में निम्न अहिंदी प्रान्त हैं—(१) दक्षिण के—आन्ध्र, कर्नाटक, तमिल और केरल। (२) पश्चिम के—सिंध, महाराष्ट्र, बम्बई और गुजरात। (३) पूर्व के—आसाम, बंगाल और उड़ीसा। इन ११ प्रान्तो मे गाधी, विनोबा, हिन्दी संस्थाओं और अब सरकारी तंत्रों के सहयोग से बहुत कुछ समस्या का समाधान हो चुका है—जो शेप है, उनका निछावर राष्ट्रीयता के नाम पर किया जा सकता है। यदि लोग अपनी मातृभापा के साथ-साथ न अधिक तो अँग्रेजी के बराबर भी राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्कभाषा हिन्दी की सेवा करें तो कुछ ही दिनों में प्रान्तीयता की समस्या का समाधान हो जायेगा, जैसा कि दुनिया के भाषाविदों मे प्रमुख डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अपने बग-वासियों से कहा था कि "मैं अपनी ओर से चाहता हूँ कि मेरे बंगभाषी भाई और बहन अपनी माँ बगभाषा की सेवा करते हुए हिन्दी की सेवा में भी कुछ भाग लें और अखिल भारत की एकता को सुदृढ़ करने मे सहायता दें।"[10]

यदि देश के विविध भागों का निरीक्षण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि हिन्दी देश के स्पन्दन के रूप में हो चुकी है। एक उदाहरण से बात को और स्पष्ट करना चाहूँगा कि मिथिला की हाईस्कूल की परीक्षा हिन्दी/मैथिली में से किसी एक को लेने की बात है, वहाँ विद्यार्थी मैथिली की तुलना में हिन्दी अधिक लेते है। अनेक भोजपुरी क्षेत्रो के लेखक हिन्दो के है—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, पं० परशुराम चतुर्वेदी आदि।

यही नहीं, संसार की समृद्ध भाषाओं में गिनी जाने वाली संस्कृत भाषा के पठन-पाठन का माध्यम देश के अधिकांश भागों में हिन्दी ही है। आज हिन्दी की निन्दा से संस्कृत को ऊँचा नही उठाया जा सकता है। "हिन्दी सेवा का वर्तमान पवित्र कर्तव्य भुलाकर यदि कोई हिन्दी की निन्दा करने के लिए संस्कृत के गुण गाता है, तो वह श्मशानवासी अघोरी के समान केवल शव-पूजा करता है, उसे संस्कृत के प्राणो का स्पर्श हुआ ही नही है।"[11] आज संस्कृत के जो ग्रन्थ हिन्दी-टीका के साथ प्रकाशित होते हैं, वे अधिक बिकते हैं। अब तो संस्कृत के शोध-ग्रन्थ भी हिन्दी में संस्तुत होने लगे हैं। बंगला के अनुवाद ग्रन्थ भी मूल से अधिक बिक रहे हैं। यही हालत दक्षिणी विभाषा के अनूदित ग्रन्थों की भी है। दक्षिण भारत के कई विद्वान् हिन्दी को सम्पन्न कर रहे है। हिन्दी के सूर-तुलसी उनके आकर्षण के केन्द्र हैं। मेरे सामने सूर के कुछ पदों को आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने संस्कृत पद्यमय अनुवाद में एक दक्षिणी विद्वान् को सुनाया था; सुनते ही वे फूट-फूटकर रो पड़े थे।[12] यह है हिन्दी की सजीवता।

इस देश में जितने भी हिन्दू विदेशियों से लड़े हैं, उनके युद्ध का संचालन इसी भाषा मे होता रहा है, इस तरह यह मुक्ति की भाषा है। स्वतन्त्रता और स्वाभिमान इसमें सुरक्षित है। इसमे रासो-कालीन सामन्ती ललकारो की झंकार, राणा का स्वाभिमान, नानक और शिवा का संगठन, बहादुरशाह ज़फ़र की अन्तिम आवाज़, जस्टिस गोविन्द राना डे, गोखले, तिलक, गांधी, सुभाष, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, नेहरूजी और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का राष्ट्रीय प्रेम तथा देश की जनता की ऊर्जा विद्यमान है। अन्त में हम आधुनिक हिन्दी के अग्रदूत भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द के शब्दों में इसका उपसंहार करना चाहेंगे कि—

> निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
> बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल

संदर्भ-संकेत

१. राष्ट्रभाषा पर विचार : आ० चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० १।
२. प्राप्तिस्थान—राष्ट्रभाषा पर विचार : आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० २।
३. भाषा और समाज : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० २६७।
४. त्रिवेणी—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—संस्करण १६वाँ, वर्ष २०१५ वि०, पृ० ७२-७३, ना० प्र० स० काशी से प्रकाशित तथा कृष्णानन्द द्वारा संपादित।
५. भाषा और समाज : डॉ० रामविलास शर्मा, संस्करण १, पृ० ३२४-२५।
६. महात्मा गांधी—प्राप्तिस्थान 'राष्ट्रभाषा सन्देश'; भाग-१२, अंक-१५, १ फरवरी, १९७७ ई०, पृ० ५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित।
७. भाषा और समाज : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ४४४।
८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-३, पृ० १९९।
९. सभापति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १९वाँ अधिवेशन, गोरखपुर वि०, सं० १९८६।
१०. भाषा और समाज : डॉ० रामविलास शर्मा पृ० ४६८।
११. वही, पृ० ४४३।
१२. यह घटना सूर पंचशती समारोह, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के समय की है।

हिन्दी-कुटीर
ग्रा० पो० लिलवाही
जनपद-मीरजापुर
उ० प्र०

परिनिष्ठित हिन्दी के विशेषण का रूपग्रामिक अध्ययन

□

डॉ० महेशचन्द्र

पाणिनी ने विशेषण की गणना नामपदों के अन्तर्गत की है। इसे 'गुणवाचक संज्ञा' भी कहा गया है। वस्तुत: संज्ञा और विशेषण परस्पर भिन्न नहीं हैं; कभी संज्ञा विशेषण की भाँति प्रयुक्त होती है, कभी विशेषण संज्ञा की भाँति।

संस्कृत में विशेषण अपने विशेष्य के लिंग, वचन और कारक से प्रभावित होता है, अर्थात् विशेष्य के अनुरूप विभक्ति-प्रत्ययों को ग्रहण करता है। पर हिन्दी की स्थिति भिन्न है। पदरचना की दृष्टि से हम हिन्दी के विशेषणों को दो वर्गों में बाँट सकते है—

(i) रूपान्तरशील विशेषण,

(ii) रूपान्तररहित विशेषण।

विशेष्य के साथ विशेषण का प्रयोग दो प्रकार से होता है—(i) संज्ञा के साथ, (ii) क्रिया के साथ। पहले प्रयोग को उद्देश्य-विशेषण और दूसरे को विधेय-विशेषण कहते है[1]; उदाहरणार्थ, 'अच्छे लड़कों को सब चाहते है' में 'अच्छे' उद्देश्य-विशेषण है और 'लड़का बड़ा भला है' मे 'भला' विधेय-विशेषण, जिसे 'पूरक' (कॉम्पलीमेण्ट) भी कहते हैं।

विशेषण तीन प्रकार के होते हैं—

(क) गुणवाचक विशेषण

(ख) संख्यावाचक विशेषण (इसमें परिमाणवाचक विशेषण भी अन्तर्भुक्त है)

(ग) सार्वनामिक विशेषण।

कारकीय स्थिति की दृष्टि से विशेषणों में ऋजु और तिर्यक् दो ही कारक होते हैं, सम्बोधन नहीं होता।

रूपान्तरशील विशेषण

इस वर्ग के विशेषण उद्देश्य या विधेय के अंग बनकर विशेष्य के लिंग, वचन और कारक के अनुसार रूप-परिवर्तन ग्रहण करते हैं। इसके अन्तर्गत हिन्दी के अधिकांश तद्भव आकारान्त विशेषण आते है। 'आ' हिन्दी की प्रमुख पुंलिग विभक्ति है। अच्छा, काला आदि विशेषण इसी वर्ग के हैं जिनके स्त्रीलिंग में अच्छी, काली आदि रूप बनते है। आगे इस कोटि के विशेषणों की रूप-ध्वनिक एवं रूपग्रामिक विवेचन द्रष्टव्य है

पुंलिंग 'काला'

	एकवचन	बहुवचन
ऋजु	काला	काले
तिर्यक्	काले	काले

रूपग्रामिक विश्लेषण

प्रातिपदिक	एकवचन	बहुवचन
काल्	- आ	- ए
काल्	- ए	- ए

उदाहरण—

(i) काला घोड़ा दौड़ता है ।

(ii) काले घोड़े दौड़ते हैं ।

(iii) काले घोड़े को दाना खिलाओ ।

(iv) काले घोड़ों को दौड़ाओ ।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जबकि तिर्यक् बहुवचन में आकारान्त संज्ञा में 'घोड़ों' रूप बनता है, वहाँ आकारान्त विशेषण में 'काले' रूप ही रहता है, अर्थात् विशेषण के तिर्यक् एकवचन और बहुवचन रूपों में अन्तर नहीं पड़ता ।

स्त्रीलिंग 'काली'

	एकवचन	बहुवचन
ऋजु	काली	काली
तिर्यक्	काली	काली

रूपग्रामिक विश्लेषण

प्रातिपदिक	एकवचन	बहुवचन
काल्	- ई	- ई
काल्	- ई	- ई

उदाहरण—

(i) काली घोड़ी दौड़ती है ।

(ii) काली घोड़ियाँ दौड़ती हैं ।

(iii) काली घोड़ी को दाना खिलाओ ।

(iv) काली घोड़ियों को घोड़ाओ ।

इस प्रकार स्त्रीलिंग विशेषण केवल लिंगभेद सूचित करते हैं, वचन और कारक में अविकृत रहते हैं ।

ऐसे रूपान्तरशील विशेषणों को हम 'काला' वर्ग के विशेषण कह सकते हैं जिसके अन्तर्गत समस्त आकारान्त विशेषण आ जाते हैं; जैसे—

(i) (क) ऊँचा, पुराना, दुबला
(ख) सादृश्यबोधक—'सा' } गुणवाचक विशेषण

(ii) पहला, दूसरा, तीसरा — क्रमवाचक
दुगुना, तिगुना, चौगुना — आवृत्तिवाचक
आधा, पौना — अपूर्णांक-बोधक गणनावाचक
थोड़ा — अनिश्चित संख्यावाचक
} संख्यावाचक विशेषण[2]

(iii) इतना, उतना, जितना, कितना — संख्या अथवा परिमाणवाचक
ऐसा, जैसा, कैसा, वैसा — गुणवाचक
} सार्वनामिक विशेषण[3]

उदाहरणार्थ—

(क) तुम-सा पुरुष और उस-सी नारी मिलना कठिन है

(ख) तुम-से (तुम-जैसे लोग दुनिया में कोई काम नहीं कर सकते

(vi) आकारान्त वर्तमानकालिक एवं भूतकालिक कृदन्त जब अपने क्रियांश की प्रमुखता खोकर विशेषणवत् प्रयुक्त होते हैं तो वे भी इसी वर्ग में आते हैं; जैसे—

वर्तमानकालिक कृदन्त—

(क) **बहता पानी** स्वच्छ रहता है।

(ख) **घुमड़ते मेघ** कभी-कभी प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देते हैं।

भूतकालिक कृदन्त—

(क) **खाया फल** जमीन पर पड़ा था।

(ख) किसी की **पड़ी चीज** उठाना उचित नहीं।

(v) 'वाला' प्रत्ययान्त कृदन्त भी इसी वर्ग में आते हैं—

(क) दर्द से **कराहनेवाली स्त्री** कल मर गई।

(ख) गंगा जानेवाले लोगों को सूचित कर दो।

'काला' वर्ग के ये सब विशेषण उद्देश्यात्मक और विधेयात्मक—दोनों ही स्थितियों में परिवर्तनशील रहते हैं; उदाहरणार्थ—

उद्देश्यात्मक स्थिति—

(क) **भली लड़की** घर के काम-काज में व्यस्त है।

(ख) **भले लड़के** माता-पिता की आज्ञा का कदापि उल्लंघन नहीं करते।

विधेयात्मक (पूरक की) स्थिति—

(क) लड़का **भला** है।

(ख) बहुत-सी लड़कियाँ जंगल की ओर **आती हुई** नजर आ रही हैं।

(वर्तमानकालिक कृदन्त)

(ग) हनुमान् ने सीता को अशोक-तले **बैठी (हुई)** देखा। (भूतकालिक कृदन्त)

निम्नलिखित सार्वनामिक विशेषण विशेष्य के लिंग से तो प्रभावित नहीं होते (क्योंकि हिन्दी-सर्वनाम स्वयं लिंगभेद से मुक्त हैं), पर वे विशेष्य के वचन और कारक के अनुसार अवश्य परिवर्तित होते हैं (कारक में यह विशेष्य की ऋजु या तिर्यक् अवस्था के अनुसार ऋजु या तिर्यक् रूप धारण करते हैं)—

मैं, तू, यह, वह, कोई, जो, कौन।

कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) **मैं दीन** आपके सामने कह ही क्या सकता हूँ ?

(ख) **यह व्यक्ति** विश्वसनीय नहीं।

(ग) **कोई आदमी** इतना क्रूर नहीं हो सकता।

(घ) **किन बालिकाओं** ने ऐसे सुन्दर चित्र बनाए हैं ?

इस प्रसंग में यह बात द्रष्टव्य है कि ऊपर गिनाए गए सर्वनामों में से 'मैं', 'तू', 'कोई' को छोड़कर शेष जब सर्वनाम के रूप में कार्य करते हैं, तब उनका रूपग्रामिक गठन उनके सार्वनामिक विशेषण के रूपग्रामिक गठन से कुछ भिन्न होता है। अग्रलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जाएगा

सर्वनाम यह

	मूल रूपिम	एकवचन	बहुवचन
ऋजु	य्	- अह	- ए
तिर्यक्	इ	- स	- न ~ न्हो

विशेषण 'यह'

	मूल रूपिम	एकवचन	बहुवचन
ऋजु	य्	- अह	- ए
तिर्यक्	इ	- स्	- न

विचार करने पर पता चलता है कि यह अन्तर तिर्यक् बहुवचन में (केवल कर्ता कारक-प्रत्यय 'ने' लगने की स्थिति में ही) दीख पड़ता है। यहाँ केवल उन्हीं कारक-प्रत्ययों को दृष्टि मे रखकर विचार किया जा रहा है जो संज्ञा और सर्वनाम दोनों के साथ प्रयुक्त होते हैं; अर्थात् ने, को, से, के लिये, में, पर, का-के-की। जो केवल सर्वनामों के साथ प्रयुक्त हो सकते हैं (अर्थात् कर्म-सम्प्रदान ए ~ एँ, सम्बन्ध रा-रे-री), उन्हें इस प्रसंग में छोड़ दिया गया है। नीचे कुछ वाक्यो द्वारा सर्वनाम और सार्वनामिक विशेषणों के इस अन्तर को स्पष्ट किया जाता है—

सर्वनाम	सार्वनामिक विशेषण
(i) उसने बड़ी सेवा की है।	उस आदमी ने बड़ी सेवा की है।
(ii) इन्होंने सुन्दर चित्र बनाए हैं।	इन छात्रों ने सुन्दर चित्र बनाए हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'वह', 'यह', 'जो', 'कौन' जब सर्वनाम-रूप में प्रयुक्त होते हैं, तब 'ने' कारक-प्रत्यय से पूर्व इनके बहुवचन मे '~न्हों' रूपिम जुड़ता है, अन्यत्र तिर्यक् बहुवचन में '- न' ही प्रयुक्त होता है। विशेषण-रूप में प्रयुक्त होने पर इनके तिर्यक् बहुवचन मे सर्वत्र '-न' रूपिम ही प्रयुक्त होता है। इस अन्तर को छोड़ शेष समस्त ऋजु / तिर्यक् अवस्थाओ मे एकरूपता है।

जहाँ तक 'कोई' का प्रश्न है, उसके सर्वनाम और सार्वनामिक विशेषण रूपों में कोई अन्तर नही; उदाहरणार्थ—

(i) सामने से कोई आते जान पड़ते है।	(i) सामने से कोई लड़के आते जान पड़ते हैं।
(ii) किसी को (किन्हीं को) बुरा मत कहो।	(ii) किसी आदमी को (किन्हीं आदमियों को) बुरा मत कहो।

'मैं' और 'तू' सर्वनामों की कर्ताकारकीय तिर्यक् अवस्था के एकवचन में इनके रूप अविकृत रहते हैं (मैंने/तूने), पर सार्वनामिक विशेषण-रूपों में 'मुझ', 'तुझ' का प्रयोग होता है—

सर्वनाम	सार्वनामिक विशेषण
मैंने	मुझ दीन ने
तूने	तुझ दुष्ट ने

अन्यत्र सब जगह एकरूपता है।

काला' वर्ग के विशेषणों के अपवाद पटिया बढ़िया' आदि इया तथा

सालाना, शाहाना आदि कुछ विदेशी विशेषण आकारांत होते हुए भी रूपांतररहित विशेषण वर्ग में आते हैं। पर इनकी संख्या काफ़ी कम है।

रूपान्तररहित विशेषण

इस वर्ग में संस्कृत के तत्सम विशेषण (जैसे सुन्दर, मधुर, गुणी आदि) तथा हिन्दी के तद्भव विशेषणों में पुंलिंगवर्गीय आकारान्त विशेषणों को छोड़कर शेष सारे स्वरान्त एवं व्यंजनान्त विशेषण आते हैं; जैसे बाहरी, भीतरी, घरेलू, टिकाऊ आदि।

सारांश यह है कि इस वर्ग के विशेषण लिंग-वचन-कारक—तीनों में अपरिवर्तित या एकरूप रहते हैं, अर्थात् उनमें शून्य प्रत्यय लगता है। उद्देश्यात्मक और विधेयात्मक—दोनों स्थितियों में यही बात है। इस कोटि के विशेषणों को सुविधा के लिए 'लाल' वर्ग के विशेषण कह सकते हैं।

इस प्रकार हिन्दी विशेषणों की रूपतालिकाओं पर विचार करने के उपरांत उनके प्रमुख दो ही वर्ग ठहरते हैं—(i) 'काला' वर्ग और (ii) 'लाल' वर्ग।　　विशेषण (विशेष्य के रूप में)

विशेषणों का प्रयोग जब संज्ञाओं के रूप में होता है तो वे संज्ञाओं की ही भाँति परिवर्तन ग्रहण करते हैं। सामान्यतः विशेषण के साथ कारक-प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता, विशेष्य के साथ होता है; किन्तु संज्ञा बन जाने के बाद विशेषणों के साथ प्रत्ययों का प्रयोग होता है। संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होने वाले विशेषण अधिकतर गुणवाचक हैं। बात को स्पष्ट करने के लिए 'काला' वर्ग के विशेषणों में से एक-एक उदाहरण स्त्रीलिंग-पुंलिंग का, तथा एक उदाहरण 'लाल' वर्ग के विशेषणों में से (क्योंकि उनमें लिंगभेद नहीं होता) लेकर उनकी विशेषण तथा संज्ञा की रूपग्रामिक स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन उपादेय सिद्ध होगा—

पुंलिंग-संज्ञा 'गोरा' की रूपतालिका				रूपग्रामिक विश्लेषण	
	मूल रूपिम	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
ऋजु	गोर्	गोरा	गोरे	- आ	- ए
तिर्यक्	गोर्	गोरे	गोरों	- ए	- ओं
सम्बोधन	गोर्	गोरे	गोरो	- ए	- ओ

पुंलिंग-विशेषण 'गोरा' की रूपतालिका				रूपग्रामिक विश्लेषण	
ऋजु	गोर्	गोरा	गोरे	- आ	- ए
तिर्यक्	गोर्	गोरे	गोरे	- ए	- ए

स्त्रीलिंग-संज्ञा 'गोरी' की रूपतालिका				रूपग्रामिक विश्लेषण	
ऋजु	गोर्	गोरी	गोरियाँ	- ई	- इयाँ
तिर्यक्	गोर्	गोरी	गोरियों	- ई	- इयों
सम्बोधन	गोर्	गोरी	गोरियो	- ई	- इयो

स्त्रीलिंग-विशेषण 'गोरी' की रूपतालिका				रूपग्रामिक विश्लेषण	
ऋजु	गोर्	गोरी	गोरी	- ई	- ई
तिर्यक्	गोर्	गोरी	गोरी	- ई	- ई

उपर्युक्त रूपतालिकाओं में स्पष्ट है कि पुंलिंग संज्ञा के तिर्यक् बहुवचन में '- ओं' प्रत्यय है तो विशेषण के तिर्यक बहुवचन में '- ए'। इसी प्रकार स्त्रीलिंग संज्ञा के ऋजु और तिर्यक बहुवचन में क्रमश इयाँ और इयों प्रत्यय हैं तो विशेषण में दोनों जगह ई अर्थात् स्त्रीलिंग

विशेषण अविकृत रहता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विशेषणों में सम्बोधन कारक नहीं होता।

अब 'लाल' वर्ग के विशेषणों से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

	संज्ञा 'निर्धन' की रूपतालिका			रूपग्रामिक विश्लेषण	
	मूल रूपिम	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
ऋजु	निर्धन	निर्धन	निर्धन	- ϕ	- ϕ
तिर्यक्	निर्धन	निर्धन	निर्धनों	- ϕ	- ओं
सम्बोधन	निर्धन	निर्धन	निर्धनो	- ϕ	- ओ
	विशेषण 'निर्धन' की रूपतालिका			रूपग्रामिक विश्लेषण	
ऋजु	निर्धन	निर्धन	निर्धन	- ϕ	- ϕ
तिर्यक्	निर्धन	निर्धन	निर्धन	- ϕ	- ϕ

इन रूपतालिकाओं से स्पष्ट है कि संज्ञा 'निर्धन' के तिर्यक् बहुवचन में - 'ओं' प्रत्यय है, तो विशेषण में '- ϕ', क्योंकि इस वर्ग के विशेषण सदा अविकृत रहते है, जबकि संज्ञाएँ विकार ग्रहण करती हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, अधिकतर विशेषण ही संज्ञारूप में प्रयुक्त होते हैं, पर कभी-कभी सख्यावाचक विशेषण भी इस रूप में प्रयुक्त मिलते हैं। इन संख्यावाचक विशेषणों में से पुंलिग आकारान्त तो 'काला' वर्ग के विशेषणों के सदृश ही विशेषण और संज्ञा की अवस्थाओं में रूपविकार ग्रहण करते है, पर अन्य संख्यावाचक विशेषण संज्ञा और विशेषण दोनों स्थितियों में एकरूप रहते है। 'लाल' वर्ग के विशेषणो के सदृश संज्ञा की अवस्था में '- ओं' प्रत्यय ग्रहण नहीं करते।

साराश रूप में यह कहा जा सकता है कि आकारान्त संख्यावाचक एवं गुणवाचक विशेषण जब संज्ञारूप मे प्रयुक्त होते हैं तो संज्ञाओं के सदृश रूपविकार ग्रहण करके अपने विशेषण वाले रूप से कुछ भिन्न हो जाते है। शेष विशेषण अविकृत रहते हैं।

सन्दर्भ-संकेत :

१. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० २१६।

२. इतना दूध कौन पिएगा ? (परिमाणवाचक)
   वहाँ इतने लोग खड़े थे कि गिनना कठिन था। (संख्यावाचक)

३. आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, हिन्दी भाषा का विकास, पृ० १६६-६७।

हिन्दी विभाग, मेरठ कॉलिज
मेरठ विश्वविद्यालय
मेरठ—२५०००१

हिन्दी के काल तथा स्थानवाची परसर्ग : एक विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण

□

डॉ० टी० चन्द्रिका

साधारणतया हिन्दी में परसर्ग की पूर्ववर्ती नामाभिव्यक्ति (नॉमिनल इक्सप्रेशन) परसर्गों के चुनाव की योग्यता का मानदण्ड माना जाता है। इसका आभास उपर्युक्त नामाभिव्यक्ति की प्रकृति तथा कार्यकारिता से ही मिलता है। एक वाक्य मे प्रयुक्त नामाभिव्यक्ति और क्रिया का पारस्परिक वाक्यात्मक सम्बन्ध का द्योतन इन्हीं सरसर्गों से होता है। हिन्दी में इसका कार्य-कलाप साधारणतया दो विभक्तियों के सहारे किये जाते हैं—

(१) प्रत्यक्षरूपेण उपस्थित विभक्ति जहाँ परसर्गों का नितांत अभाव है।

(२) परोक्षरूपेक्ष उपस्थित विभक्ति जहाँ परसर्ग अनिवार्य है।

परसर्गों का चुनाव वाक्यात्मक अभिव्यक्तियों की विभिन्न संरचनात्मक विशेषताओं पर ही आधारित है।

हिन्दी के परसर्गों को संस्कृत के विभक्ति प्रत्ययों के समानार्थी माना जाता है। एक ही परसर्ग हिन्दी में कभी-कभी एक से अधिक विभक्तियों का बोध कराने में योग्य हो जाता है। इस परिस्थिति में संरचनात्मक विशेषतायें परसर्गों के चुनाव की योग्यता-निर्धारण करने वाले मुख्य घटक बन जाती हैं। हिन्दी में ऐसी भी परिस्थितियाँ पाई जाती हैं जहाँ एक ही विभक्ति के द्योतन के लिए एकाधिक परसर्गों का प्रयोग हो।

प्रस्तुत लेख का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी में सर्वप्रयुक्त काल तथा स्थानवाची परसर्गों का पुनर्मूल्यांकन है। हिन्दी के सर्वप्रयुक्त परसर्ग निम्नांकित हैं—

(क) 'से' जो एक साधन या एक माध्यम को प्रस्तुत करता है।

(ख) 'में' जो समयद्योतक, स्थानद्योतक या लक्ष्यद्योतक होता है।

(ग) 'पर' स्थानद्योतक के रूप में।

(घ) 'को' साधनद्योतक (परोक्ष)।

(ङ) 'तक' लक्ष्यसूचक।

हिन्दी के ये परसर्ग काल तथा समय का द्योतन करने के अलावा अन्यत्र वैयाकरणिक कार्य-कलाप में भी हिस्सा लेते हैं। इसीलिए ही 'अतिच्छादन' भी बहुल मात्रा में पाया जाता है।

काल तथा स्थानवाची के रूप में प्रयुक्त होने वाले परसर्गों पर प्रकाश डालना मात्र इस लेख का उद्देश्य है। 'में', 'पर', 'से' आदि परसर्गों के अन्यत्र काम भी होते हैं जिनसे अर्थ की सीमाएँ निर्धारित भी की जाती हैं और प्रतिफलित भी।

उदाहरण में स्थान समय गति आदि

'से'—व्युत्पत्ति, पृथक्ता, कारण, माध्यम, स्रोत, आदि।

'पर'—दूरी, कारण, निकटता, अविच्छिन्नता, आदि।

इन परसर्गों के वैयाकरणिक प्रस्तुतीकरण का उदाहरण निम्नांकित है—

(१) कल से यह आदमी भूखा है। (समयसूचक)

'फ्राम यस्टरटे आनवर्ड्स दिस मैन इज हंगरी।'

(२) बच्ची स्कूल से घर तक अकेली आयी। (स्थानसूचक)

'दि लिटिल गर्ल्स केम एलोन फ्राम दि स्कूल टू दि हाउस।'

(३) गांधीजी के कहने से लोग सत्याग्रह के लिए तैयार हुए। (स्थितिसूचक)

'तक' और 'से' के बीच वैयाकरणिक कार्यकलाप की दूरी न्यूनतम होती है जिस गसहित इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है—

दूकान तक जाओ। 'गो टू दि शाप।'

(एक सुनिश्चित बिन्दु पर इशारा)

दूकान से जाओ। 'गो अवे फ्राम दि शाप।'

इसी प्रकार कार्यकलाप के मामले में 'में' और 'पर' का व्यतियान 'अति सूक्ष्म' होता है

उदाहरण—घर में बैठो। 'सिट इन दि हाउस।'

घर पर बैठो। 'सिट ऐट होम।'

कुछ स्थानों पर 'तक' को 'को' के स्थान पर प्रतिस्थापित भी किया जाता है।

उदाहरण—दूकान को जाओ। 'गो टू दि शाप।'

जहाँ 'को' अपेक्षित है।

दूकान तक जाओ। 'गो अप टू दि शाप।'

उपर्युक्त दोनों वाक्य लक्ष्य की सूचना देते हैं। 'को' का वहाँ प्रयोग प्रस्तुत परिस्थि र्य नहीं माना जाता। अन्यत्र उदाहरण—

उदाहरण—लड़की घर गई। 'दि गर्ल वेन्ट होम।'

घर जाओ। 'गो होम।'

घर छोड़ो। 'लीव दि हाउस।'

'से' परसर्ग बहुमुखी दिशाओं का द्योतन करते हुए भी पाया जाता है।

उससे कहो। 'टिल हिम।'

उनसे लड़ो। 'फाइट विथ देम।'

ध्यान से सुनो। 'लिसेन विथ केअर।'

चाकू से फल काटो। 'कट दि फ्रूट विथ दि नाइफ।'

लड़की मुझसे बड़ी है। 'दि गर्ल इज बिगर दैन मी।'

वह स्वभाव से दुष्ट है। 'ही इज क्रुक्ड बाई नेचर।'

'में', 'पर' आदि अगत्यात्मक इकाइयाँ साधारणतया विभिन्न अर्थ तथा काम का द हैं।

उदाहरण—उसके हाथों में हथियार नहीं है।

देयर इज नो वेपन इन हिज हैण्ड

विद्यार्थी अध्यापक के पैरों में गिर पड़ा

'दि स्टूडेन्ट फेल ऐट दि टीचर्स फीट।'

भारत में अनपढ़ लोगों की संख्या ज्यादा है।

'दि नम्बर ऑफ इललिटरेट्स इज वेरी हाई इन इण्डिया।'

इन नारों में कोई भेद नहीं।

'देयर इज नो डिफरेन्स इन दीज स्लोगन्स।'

सांस्कृतिक कार्यों में उनकी पहले से ही रुचि थी।

'ही हैड सम टेलेन्स इन दि कल्चरल प्रोग्राम्स फ्राम दि वेरी बिगनिंग।'

इसी प्रकार 'पर' के भी कई अर्थ होते हैं।

उदाहरण—गाड़ी सड़क पर दौड़ रही है।

'दि मोटर इज रनिंग आन दि रोड।'

दूकान सड़क पर है।

'दि शाप इज ऑन दि रोड।'

स्कूल यहाँ से दो मील पर है।

'दि स्कूल इज ऐट टू माइल्स अवे फ्राम हियर।'

माँ बच्ची की बात पर प्रसन्न हो गयी।

'दि मदर बिकम हैप्पी ऑन (ऐट) दि यंग गर्ल्स वर्ड्स।'

तरकारी का भाव दिन पर दिन बढ़ रहा है।

'दि प्राइसेज ऑफ दि वेजीटेबिल्स आर गोइङ्ग हाई डे बाई डे।'

गांधीजी ने अस्पृश्यता पर आक्षेप किया।

'गांधीजी रिडिकल्ड दि आइडिया ऑफ अनटचेबिलिटी।'

परसर्गों का प्रयोग काल और स्थानवाची परिस्थितियों पर आधारित है, फिर भी काल और स्थानवाची परसर्गों के प्रयोग में 'को' में कभी विभिन्नताएँ भी परिलक्षित होती है।

उदाहरण—लड़का घर को गया।

'दि ब्वाय वेन्ट होम।'

लड़का रात को लौटा।

'दि ब्वाय रिटर्न्ड ऐट नाइट।'

इन परसर्गों के अर्थों का वर्णन निम्नांकित रूप में किया जा सकता है—

परसर्ग	अर्थ
में	डूरिंग (विदिन)
पर	ऐट
तक	अनटिल
से	फ्राम
को	विदिन

उदाहरण—वह दिन में आया।	'हि कम ऐट डे।'
वह वक्त पर आयी।	'शी केम इन टाइम।'
मेहमान कल तक रुकेंगे।	'दि गेस्ट्स विल रिमेन टिल टुमारो।'
वह कुछ दिनों से बीमार है।	'हि इज सिक फार सम टाइम्स।'
मेरी बहन सोमवार को आएगी।	माई सिस्टर विल कम आन मनडे

परसर्ग काल के अलावा कभी-कभी यथार्थता का भी बोध कराता है। 'पर' मे भी यह बात पाई जाती है। 'में' का प्रयोग दैर्घ्य की सूचना देता है जहाँ एक निश्चित कालबिन्दु की ओर संकेत करने के लिए साधारणतया हिन्दी में 'को' का ही प्रयोग चलता है। एक ही वाक्य में इन विभिन्न परसर्गों और उनके विभिन्न अर्थ उदाहरणसहित इस प्रकार निर्धारित कर सकते है—

लड़की देर से पढ़ी।	'दि गर्ल स्टार्टेड लरनिंग लेट।'
लड़की देर मे पढी।	'दि गर्ल लर्न्ड आफ्टर ए लांग टाइम।'
लड़की देर तक पढ़ी।	'दि गर्ल लर्न्ड टिल लेट टाइम।'

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इन परसर्गों के प्रयोग में 'अतिच्छादन' प्रचुर माला में पाया जाता है और इनके बीच का अन्तर इतना न्यूनतम और ससूक्ष्म होते है कि एक दूसरी भाषा के तौर पर हिन्दी पढ़ने वाले छात्रों को उपर्युक्त परिस्थितियों पर 'सतर्कता' की आवश्यकता अनिवार्य बन जाती है। काल और स्थानवाची के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाला 'तक', 'से' के साथ 'व्यतिरेकीपन' पर पाया जाता है जो पृथकता का द्योतन करता है।

उपर्युक्त परसर्गों के प्रयोग मे उपस्थित होने वाली सामान्य समस्याओं पर प्रकाश डालना ही इस लेख का उद्देश्य है। वह कार्यवाही शब्द जिससे परसर्ग अनुबन्धित हो जाता है, परसर्गों के चुनाव और परिस्थिति पर काफी प्रभाव डालता है।

●

प्रवक्ता
हिन्दी विभाग
कालीकट विश्वविद्यालय,
केरल—६७३६५

अँग्रेजी में हिंदी या हिंदुस्तानी शब्द

☐

डॉ० उर्मिला जैन

अँग्रेजी भाषा आदिकाल से ही अन्य भाषाओं से शब्द लेती रही है। जिन स्थानों से अँग्रेजो का सम्पर्क अधिक रहा है, वहाँ की भाषाओं से अँग्रेजी में अधिक शब्द आए हैं तो अन्य भाषाओं से कम। पर अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि अँग्रेजी भाषा से सभी विदेशी (अन्य भाषाओं के) शब्द निकाल दिए जाएँ तो उसके पास अपना कहने को जो बचेगा, वह नगण्य ही कहा जाएगा।

विदेशी भाषाओं से शब्द लेने में अँग्रेजी अत्यन्त उदार रही है। अँग्रेजी भाषाविद् चाहते तो विदेशी भाषाओं के शब्दों के लिए अँग्रेजी में शब्द बना सकते थे, पर उनके गढ़े हुए शब्दों में वह लावण्य नहीं होता; वे इतनी अच्छी तरह अँग्रेजी में नहीं खपते जितनी अच्छी तरह विदेशी शब्द खप गए हैं। शायद यही कारण है कि अँग्रेजी का प्रचार आज संसार के प्रायः सभी देशों में है। फ्रांस, हालैण्ड, स्पेन, इटली और जर्मनी जैसे देशों में जहाँ उनकी अपनी भाषाएँ अधिक विकसित हैं, अँग्रेजी सीखने की ओर लोगों का ध्यान बढ़ता जा रहा है। इन देशों में लड़के-लड़कियाँ केवल अँग्रेजी सीखने की लालच मे घरेलू नौकरों के रूप में या होटलों और रेस्तरां आदि में बर्तन धोने के लिए भी इंग्लैण्ड चले आते हैं और एक-दो वर्ष बाद अँग्रेजी सीखकर वापस चले जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि अँग्रेजी विश्व की सर्वमान्य भाषा है, या यह कि अंग्रेजी के बिना किसी का काम नही चल सकता। वस्तुतः स्थिति इसके विपरीत ही है। स्पेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, पुर्तगाल और मिस्र में हमारा अनुभव तो यही रहा है कि अँग्रेजी का अच्छे से अच्छा ज्ञान भी वहाँ किसी काम का नहीं। फ्रांस में तो जिन्हें अँग्रेजी आती है, वे भी अँग्रेजी बोलना पसन्द नहीं करते। उत्तरी अफ्रीका के देशों में तो अँग्रेजी के सहारे यात्रा करना जान-बूझकर परेशान होना है। इसके बावजूद अँग्रेजी का प्रभाव वहाँ के देशों मे बराबर बढ़ रहा है।

अँग्रेजी भाषा विदेशी प्रभाव में शुरू से रही है। इसके दो कारण प्रमुख है। एक तो यह कि इग्लैण्ड प्राचीन काल में बराबर विदेशी आक्रमण का शिकार बना रहा। जितने भी विदेशी आक्रामक वहाँ आए, सभी किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव छोड़ते गए। मध्यकाल में जितने भी आक्रामक यहाँ आए, उनका सीधा सम्पर्क अँग्रेजी बोलने वालों से रहा। कालान्तर में वे स्वयं तो वहीं रुक ही गए, अँग्रेजी भाषा ने उनके शब्दों को भी अपने में खपा लिया। बहुत कम राष्ट्र और बहुत कम भाषाएँ ऐसी होंगी जिन्हें इंग्लैण्ड और अँग्रेजी के समान दूसरे देशों और भाषाओं के सम्पर्क में आने के इतने अधिक अवसर मिले और जिसके सीधे प्रभाव से अँग्रेजी मे इतने अधिक विदेशी शब्द आ गए।

किसी भी भाषा में विदेशी शब्दों के आने के कई रास्ते हैं और किस सीमा तक विदेशी शब्द उसमें आसानी से खप जाते है, यह भी उसकी अपनी क्षमता पर निर्भर है।

दूसरी भाषाओं के बोलने वालों का संपर्क भी कई तरह का होता है। यह संपर्क एक देश की दूसरे पर विजय, उपनिवेशवाद, व्यापार या साहित्य किसी भी कारण से हो सकता है। जब एक देश किसी दूसरे देश पर आक्रमण कर उस पर पूर्णतः अधिकार कर लेता है और यदि उसका उद्देश्य केवल राजनीतिक सत्ता हथियाना है, तो उसके कारण विजित देश में अधिकारियों का एक ऐसा वर्ग बन जाता है जो विजित देश के लोगो की तुलना मे संख्या की दृष्टि से नगण्य ही रहता है। ऐसी स्थिति में स्थानीय भाषा ही अधिक पनपती है। यद्यपि विजेता की भाषा के कुछ शब्द—मुख्यतः संस्कृति एवं राजकाज संबंधी—उसमें भी आ जाते है।

विजेता केवल राजनीतिक सत्ता हथिया कर ही संतोष नहीं करें, वरन् विजित देश में अल्प-संख्यक शासक के रूप में एक अलग वर्ग बनाकर रहें और अपने मूल देश या भाषा के लोगो से नाममात्र का संपर्क रखें, तो ऐसी ही स्थिति होती है।

इसके विपरीत यदि विजित देश नए शासक के अधीन एक स्वतंत्र देश के रूप में नहीं रहता, वरन् अपनी मूल सरकार के द्वारा नियंत्रित रहता है जिसमे शासक वर्ग बराबर उस देश की अपनी भाषा बोलने वालों के संपर्क में आते रहते है, तो ऐसी स्थिति में अक्सर देखा गया है कि शासको की भाषा विजित देश के लोगों की भाषा पर बहुत ज्यादा प्रभाव डालती है और वहाँ के लोगों में वह बहुत अधिक प्रचलित हो जाती है। विजित देश की भाषा से वह निश्चय ही कुछ शब्द ग्रहण करती है, पर इसके कारण विजेता की भाषा में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं होता।

एक और बिल्कुल अलग स्थिति तब होती है जब आक्रमण का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक सत्ता हथियाना न होकर विजित देश को पूर्णतः एक उपनिवेश के रूप में बना लेना होता है। यदि शासक देश से इतनी अधिक संख्या में लोग आएँ कि विजित देश के मूल निवासियों की अपेक्षा वे बहुत अधिक हों और उनकी सैनिक और राजनीतिक शक्ति इतनी अधिक हो कि वे विजित देश पर पूर्णतः हावी हो जाएँ तो विजेता की भाषा निश्चित ही शुरू से अधिक प्रभावशाली रहेगी। स्थानीय लोगों से वे दैनिक जीवन में काम आने वाले कुछ ऐसे शब्द जरूर अपना लेंगे जो उन्हें शासन-कर्म ठीक से चलाने में सहायक हों।

कभी-कभी युद्ध में विजय के परिणामस्वरूप विजित देश उपनिवेश नहीं बन जाता, वरन् विजेता देश के लोग अप्रवासी के रूप में नए देश में पहुँचते हैं और विजितों के बीच रहने लगते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों ही भाषाएँ एक-दूसरे से शब्द ग्रहण करती हैं और बराबर का दर्जा बनाए रखती हैं।

जहाँ तक अँग्रेजी भाषा का प्रश्न है, उसमें नए शब्दों और विचारों का प्रवेश कराने में व्यापार की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। व्यापार के माध्यम से अँग्रेजी भाषा में जितने अधिक शब्द आए, उतने किसी अन्य रास्ते से नहीं।

भारतीय भाषाओं के जो शब्द अँग्रेजी में आए हैं, उनमें से अधिकांश किस रास्ते से आए, यह कहना मुश्किल है। कुछ शब्द अन्य यूरोपीय और एशियाई भाषाओं से आए हैं तो कुछ व्यापार के माध्यम से और कुछ सीधे सपर्क से। अँग्रेजों का भारत से सीधा सम्पर्क २०० साल से अधिक समय तक रहा। अतः अँग्रेजी में सीधे भारतीय भाषाओं से बहुत अधिक संख्या मे शब्दों का आना कोई आश्चर्य की बात नहीं

संस्कृत से अँग्रेजी में कुछ शब्द सीधे आए हैं और कुछ अन्य भाषाओं से। 'चन्दन' के लिए अँग्रेजी में 'सन्दल' शब्द है जो लैटिन 'सण्डलम' से आया है। लैटिन भाषा में 'सण्डलम' का प्रयोग १४०० के करीब पाया गया है। साहित्यिक संस्कृत से 'अवतार' शब्द सीधा अँग्रेजी में आया है। सती, तन्त्र, योग, माया, कर्म, निर्वाण, स्वस्तिक और स्तूप ये सभी शब्द सीधे संस्कृत से आए हे और १८वीं सदी के प्रारम्भ से ही अँग्रेजी में इनका प्रयोग मिलता है।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी से अँग्रेजी में जितने अधिक शब्द आए हैं, उतने किसी अन्य भारतीय भाषा से नहीं। और ये सभी शब्द मुख्यत: व्यापार के माध्यम से आए है। केप ऑफ गुड्होप के रास्ते सबसे पहले भारत मे जेम्स लंकास्टर समुद्री जहाज में सोलहवी सदी के अंत में आया था। इस अवधि में अँग्रेजी में लाख, मन और बनिया शब्द आ चुके थे।

१७वी सदी में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रभाव भारत में बढ़ रहा था और अग्रेज यात्री अपनी भारत-यात्रा का विवरण लिखने लगे थे, तो उनकी भाषा मे भारतीय शब्दों का प्रयोग बहुत ज्यादा होने लगा था। इस अवधि में नवाब, गुरु, मुल्ला, मुंशी, मौलवी, खानसामा, साईस, महावत, पंडित, महाराजा, रानी आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा था। मुंशी, मौलवी, खानसामा, साईस आदि शब्द यद्यपि हिन्दी के नहीं हैं, पर अँग्रेजी में इनका प्रवेश हिन्दुस्तानी के माध्यम से ही हुआ है।

इस प्रकार कपड़ों में चद्दर, धोती, पगड़ी और डूँगरी भी इस वक्त तक अँग्रेजी में प्रचलित हो चुके थे। अन्य शब्दों में धतूरा, ताड़पत्र (तालीपट), साँभर, खिचड़ी, पाँच, घी, पानी, मशक, पंखा, डोली, खाट (काट), बंगला, टमटम, करोड़, सेर, कौड़ी, दरबार, कचहरी, घाट, शिकार, सैदान, पम्प आदि का भी प्रयोग उस काल के साहित्य में मिलता है।

'बँगला' शब्द आजकल अँग्रेजी में बहुत ही प्रतिष्ठित अर्थ मे लिया जाता है और उसका इतना अधिक प्रयोग होता है कि अँग्रेजी का अपना शब्द लगता है, पर वास्तव में यह शब्द बगाल से बना है और अब इसका प्रयोग 'बंगाल' या भारतीय 'बंगला' (भाषा) की जगह बिल्कुल अलग अर्थ में होता है।

बंगला के समान ही और भी बहुत से शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग अँग्रेजी में बिल्कुल ही अलग अर्थ में होता है। एक शब्द है 'करी' (Curry), जिसका प्रयोग खान-पान, विशेषकर होटल और रेस्तरां में बहुत होता है। पर इसका प्रयोग 'कढ़ी' के लिए नहीं, वरन् किसी भी प्रकार की पकी हुई साग-सब्जी के लिए होता है। यह अँग्रेजी 'करी' हिन्दी 'तरकारी' का संक्षिप्त रूप है जो सुविधा की दृष्टि से अँग्रेजी में 'करी' बनकर रह गया है।

ऊपर जिन शब्दों का उल्लेख हुआ है, वे १६वीं-१७वीं सदी तक अँग्रेजी भाषा में आ गए थे। १८वीं और १९वीं सदी में ज्यों-ज्यों भारत में अँग्रेजी प्रभाव बढ़ता गया, हिन्दी या हिन्दुस्तानी से आए शब्दों की संख्या भी बढ़ती गई। रसालादार, जमादार, निजाम, वाला, बाबू, सौकार (साहूकार) जैसे शब्द यदि राजकाज की वजह से आए तो सारी (साड़ी), बाँधना, गजी, मैना, चीता, आना (पैसा), हौदा, बख्शीश जैसे शब्द शासन और जनता में संपर्क बढने से आए। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जो स्पष्ट ही हिन्दी से अँग्रेजी में आए हैं, पर अँग्रेजी में उनका रूप बदल गया है। 'शैम्पू' पढ़ने-सुनने में अँग्रेजी का अपना शब्द लगता है, पर यह हिन्दी 'चम्पू' से बना है।

१९वीं सदी तक अँग्रेजी में भारत-सम्बन्धी पुस्तकें काफी मात्रा में लिखी जाने लगी थीं और भारत में अँग्रेजी का प्रचार-प्रसार भी काफी हो चुका था इस काल के कई अँग्रेजी उपन्यासो की

पृष्ठभूमि भारत ही थी। अतः अब तक और भी अधिक हिन्दी शब्द अँग्रेजी में आ चुके थे। ऐसे शब्दों में दैनिक भारतीय जीवन और आचार-विचार में व्यवहृत शब्दों की संख्या का अधिक होना स्वाभाविक है। सवार, डेकोइट (डकैत), चपरासी, धोबी, चेला, गुरु, पट्टी, टोपी, टाट, धुरी (दरी), पिजामास (पाजामा), देवदार, लोटा, टोंगा (तांगा), चपाती, चटनी, थाना, जिला, तमाशा आदि ऐसे ही शब्द हैं जो अब तक अँग्रेजी में प्रतिष्ठित हो चुके है।

मिरदार (सरदार), सूबादार (सूबेदार), हविलदार (हवलदार), जमीनदार (जमींदार), मोहर (मुहर), लश्कर, खिदमतदार, जनाना, पर्दा, खाली, नीलगाय आदि ऐसे शब्द हैं जो यद्यपि मूलतः फारसी शब्द है, पर अँग्रेजी में हिन्दी या हिन्दुस्तानी से आए हैं। पर दीवान, शाह, बाजार, दीनार, मिरजा, फरमान, शाल, पेशवा, बुलबुल, परी, अत्तर, कोहिनूर, खसखस आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके विषय में कहना मुश्किल है कि वे सीधे फारसी से अँग्रेजी में आए या हिन्दुस्तानी से। ईरान और भारत का जितना निकट का सम्बन्ध रहा है, उतना इंग्लैण्ड और ईरान का नहीं तथा मुगल-काल में अँग्रेजो का तत्कालीन भारतीय शासकों से सीधा सम्पर्क रहा। ऐसी स्थिति में यह संभावना अधिक लगती है कि अधिकांश फारसी शब्द जो अँग्रेजी मे आ गए है, मूलतः हिन्दुस्तानी से आए है।

१८५, नागवासुकि
इलाहाबाद—२११००

प्रत्ययों में सर्वापहारी लोप : एक समीक्षा

□

डॉ० वीरेन्द्रकुमार सिंह

व्याकरणशास्त्र की विश्लेषणात्मक विधा में शब्दो को स्थूलत: दो भागो में बाँटा जाता है—प्रकृति और प्रत्यय। पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रत्ययों का कोई लक्षण नहीं दिया गया है, परन्तु उनके परप्रयोग का विधान[1] करते हुए विभिन्न अर्थों एवं विशिष्ट दशाओं के साथ उनका परिगणन (अष्टा० ३/१/१ से ५/४/१०) तीन अध्यायों—तृतीय, चतुर्थ और पंचम—में किया गया है।

अ (३·३·१०२), उ (३·२·१६८), आय (३·१·२८), तव्य (३·१·९६), त्र (३·२·१८४), से (३·४·९), ति (४·१·७७), य (४·२·४९), म (४·३·८), रूप्य (४·३·८१) प्रभृति कुछ प्रत्ययों को छोड़कर अधिकांश प्रत्यय इतों (अनुबन्धनों) से युक्त दिखायी पड़ते है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार प्रयोग-दशा में इन इत् संज्ञक वर्णों का लोप कर दिया जाता है[2], अर्थात् वे प्रयोग-दशा मे दिखायी नहीं देते।[3] अनुबन्धविहीन प्रत्यय मूल प्रत्यय माना जाता है और यही प्रकृति मे संयुक्त हुआ दृष्टिगत होता है; इत् वर्ण लुप्त होकर भी वृद्धि आदि कार्यों का सम्पादन करते हैं। उदाहरण के लिए, पाक: शब्द में प्रकृति है पच् धातु तथा प्रत्यय है घञ्। घञ् में घ् एवं ञ् इत्संज्ञक वर्ण है, अनुबन्धविहीन प्रत्यय 'अ' है जो पाक: मे ककार के साथ संयुक्त है। प्रत्यय के घित् होने के कारण 'चजो: कु: घिण्यतो:' (७/३/५२) सूत्र से पच् का चकार, ककार[4] मे परिवर्तित हुआ है और उसके ञित् होने से अत उपधाया: (७/२/११६) सूत्र से उपधा स्वर (पच् में प्राप्त अ) की वृद्धि (आकार) सम्भव हुई।

"किसी प्रत्यय में कौन-सा वर्ण इत् होगा"—इस प्रश्न का उत्तर अष्टाध्यायी (१/३/२-१/३/८) में दिया गया है जिसके परिशीलन से निम्नलिखित तथ्य प्रकाश मे आते है—

(क) उपदेशावस्था में अनुनासिक स्वर इत्संज्ञक होते है (१/३/२)। आजकल अनुनासिक स्वरों को (देखकर) नही पहचाना जा सकता, फलत: जहाँ-जहाँ स्वरों का इत् स्वीकृत है, उसे यथावत् ग्रहण करना पड़ता है।[5] ध्यातव्य है कि स्वर इतों का प्रयोग धातु पाठ में बहुतायत से हुआ है। इत् स्वरों का अनुबन्ध प्राय: प्रत्ययों के अन्त्य स्वर के रूप में हुआ है (यथा क्तवतु में उकार का) तथा स्वरों का उच्चारणार्थक प्रयोग भी देखा जाता है (जैसे कि क्विप् आदि में इकार)। उच्चारणार्थक स्वर नियमार्थक नही है, इसलिए वे मात्र लोप की दृष्टि से इत्वत् हैं।

(ख) प्राय:[6] अन्तिम हल् (शुद्ध व्यंजन) तथा प्रत्ययों के आदि मे प्रयुक्त षकार (१/३/६), चवर्ग, टवर्ग के वर्ण (१/३/७) एवं (तद्धितभिन्न प्रत्ययों में लकार शकार और कवर्ग के वर्ण

(१/३/८) इत्संज्ञक होते हैं। इस प्रकार प्रत्ययों में व्यंजन इतों का प्रयोग आदि अथवा अन्त दो ही स्थलों पर हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि किसी भी प्रत्यय में अधिक से अधिक दो व्यंजन इत् हो सकते हैं और उनके लोप के बाद कुछ न कुछ अवश्य बचता है। यदि कहीं अवशिष्ट वर्ण का भी लोप (अनुबन्ध समझकर) होने लगता है तो उच्चारण-सामर्थ्य से उसे लुप्त नहीं माना जाता, तद्यथा —लट्, लिट् प्रभृति प्रत्ययों में ट् तथा इ की इत्संज्ञा के बाद यदि अवशिष्ट ल् की भी 'लशक्वतद्धिते' (१/३/८) से इत्संज्ञा मानकर लोप करने लगें तो उच्चारण-सामर्थ्य की मान्यता उसे रोक देती है— उच्चारणसामर्थ्याल्लस्य नेत्वम् (सि० कौ०)। ऐसी स्थिति में सर्वापहारी लोप कैसे और कब प्राप्त हो सकता है? जब पूरे प्रत्ययों का लोप ही हो जाता है तो उसे स्वीकार क्यों किया जाता है? प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं जिज्ञासाओं की सन्तुष्टि का प्रयास किया गया है। अस्तु!

जिन प्रत्ययों में सभी वर्णों का लोप हो जाता है, वे हैं—क्विन् (३/२/५८), क्विप् (३/२/६१), ण्वि (३/२/६२), विट् (३/२/६७), ण्विन् (३/२/७१), विच् (३/२/७३) और च्वि (५/४/५०)। इनमें से आदि छह (क्विन् से विच् तक) कृत प्रत्यय हैं और अन्तिम असर्वविभक्तिक तद्धित (अव्यय-निर्मापक) प्रत्यय। इन प्रत्ययों में प्रयुक्त अन्तिम हल् वर्णों की 'हलन्त्यम्' सूत्र से, आदि प्रयुक्त क् (क्विन्, क्विप्), की 'लशक्वतद्धिते' सूत्र से तथा ण् (ण्वि, ण्विन्) एवं च् (च्वि) की 'चुटू' सूत्र से इत्संज्ञा होती है और उनका लोप हो जाता है, शेष बचता है—'वि'। 'वि' में प्रयुक्त इकार उच्चारणार्थक है। फलतः उसके लोप के बाद केवल 'व्' ही शेष रह जाता है। चूँकि यह प्रत्यय (व) एकाल् है, इसलिए इसकी अपृक्त संज्ञा (अपृक्त एकाल् प्रत्ययः ११ १/२/४११) और तद्द्वारा 'वेरपृक्तस्य' (६/१/६७) सूत्र से इसका लोप हो जाता है। इस प्रकार उक्त प्रत्ययों का सर्वथा लोप दृष्टिगोचर होता है।

यहाँ स्मर्तव्य है कि लट् आदि में उच्चारण-सामर्थ्य से लकार का लोप इसलिए स्वीकार नहीं किया गया कि 'लशक्वतद्धिते' सूत्र सावकाश है (अर्थात् ल्यु, ल्युट् आदि में तो उसकी प्रवृत्ति है ही) और 'लस्य' (३/४/७७) जैसे सूत्रों में उसकी आवश्यकता है, परन्तु यदि क्विन् प्रभृति में वकार को उच्चारण-सामर्थ्य से लुप्त न माना जाय तो 'वेरपृक्तस्य' सूत्र निरर्थक हो जायेगा। इस प्रकार क्विन् आदि में सभी वर्णों का लोप अपरिहार्य है।

यद्यपि क्विन् इत्यादि में मूल प्रत्यय व् बचता है, तथापि सूत्र—वेरपृक्तस्य—में इकारान्त वि का रूप प्रयुक्त हुआ है जिसका अभिप्रेतार्थ यह है कि केवल उसी व् प्रत्यय की अपृक्तसंज्ञा होगी जो इकार के साथ (वि रूप में) पठित है। ऐसा हो जाने से दो तथ्य स्पष्ट है—

(i) वे सभी प्रत्यय जिनमें मूलतः 'वि' शेष रहता है, सर्वापहारी लोप वाले प्रत्यय हैं।

(ii) वु (ण्वुल्, ण्वुच्, वुञ्, वुनुष्वुन्) रूप वाले प्रत्ययों में उकार को उच्चारणार्थक मानकर अवशिष्ट व् के लोप की शंका कदापि नहीं की जा सकती।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मूल प्रत्यय अपनी प्रकृति के साथ संयुक्त दिखायी पड़ता है और इसके इत्वर्ण वृद्धि आदि कार्य करते हैं, परन्तु जब प्रकृति में कोई संयोग न दिखायी दे, केवल परिवर्तन ही परिलक्षित होता हो, तब उस परिवर्तन के सम्यग् बोध के लिए ऐसे प्रत्ययों की आवश्यकता पड़ती है जिसका स्वरूप तो शून्य हो, किन्तु वह प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों की समुचित व्याख्या कर सके। क्विन् प्रभृति प्रत्ययों का शास्त्रीय विधान इसी दृष्टि से हुआ है। आधुनिक भाषाविज्ञान में उक्त प्रवृत्ति को शून्य सम्बन्धतत्त्व (ज़ीरो मार्फीम) का योग कहकर व्याख्यायित किया गया है

क्विन्, क्विप्, ण्वि, विट्, ण्विन् और विच् की कृदतिङ् (३/१/९३) सूत्र से कृत् संज्ञा होती है और ये कर्ता अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—

(अ) घृतं स्पृशतीति घृतस्पृक् — ॥ ३/२/५८ ॥
(स्पृश् + क्विन् + सु = स्पृश् + वि + ० (६·१·६६)
= स्पृक् + ० (६·१·६७ तथा ८·२·६२)

(ब) शत्रुं जयतीति शत्रुजित् — ॥ ३/२/६१ ॥
(जि + क्विप् + सु = जि + वि० + ० (६·१·६८)
जित् + ० (६·१·६७ तथा ६·१·७१)

(स) अर्धं भजते अर्धभाक् — ॥ ३/२/६२ ॥
(भज् + ण्वि = भज् + वि = भाज् + ०
भाज् + सु = भाक्)

(द) आममत्ति आमात् — ॥ ३/२/६८ ॥
(अद् + विट् = अद् + वि = अद् + ०
= अत् + सु = अत् + ० = अत्)

(य) त्वं यज्ञे वरुणस्यावया असि — ॥ ३/२/७२ ॥
(तुम यज्ञ में वरुण के यज्ञकर्ता हो)
(अव √यज् + ण्विन् = यज् + वि = यज् + ०
= याज् + सु = याज् + ० = याः)

(र) कीलालं पिबतीति कीलालपाः — ॥ ३/२/७४ ॥
(कीलाल + पा + विच् = पा + वि = पा + ०
= पा + सु = पाः)

मूल रूप (वि = व्) और अर्थ (कर्तासूचक) के समान होने पर भी क्विन् प्रभृति प्रत्ययों में जो विभिन्न इतों का प्रयोग किया गया है, उसका कारण यह है कि क्विन् आदि प्रत्ययों की 'आर्धधातुकं शेषः' (३/४/११४) सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा है। आर्धधातुक प्रत्यय के परे अंग (धातु) को गुण होने का विधान है, परन्तु (१) क्विन् तथा क्विप् प्रत्ययों के कित् होने से उसका 'क्ङिति च' (१/१/५) से निषेध हो जाता है। (२) ण्वि एवं ण्विन् के णित् होने से (गुण होने के स्थान पर) अत् उपधा की वृद्धि (अत उपधायाः ॥ ७/२/११६) हो जाती है (भज् + ण्वि = भाज्)। (३) क्विप् के पित् होने से यथासम्भव तुक् का आगम होता है (ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥ ६/१/७१ — जि + क्विप् = जित्)। (४) क्विन् में प्रयुक्त नकार विशेषणार्थक है, जैसा कि 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' (८/२/६२) सूत्र में 'क्विन्' प्रयोग से प्रमाणित होता है। (५) ण्विन् का नकार ण्वि से भेद-प्रदर्शन के लिए है। (६) विट् का टकार विशेषणार्थक है, जैसा कि विड्वनोरनुनासिकस्यात् (६/४/४१) विधान से सूचित होता है। (७) विच् प्रत्यय का चकार 'वेरपृक्तस्य' में निर्दिष्ट सामान्य ग्रहण (वि) में परिणयन के लिए है।[८]

च्वि प्रत्यय तद्धित प्रत्यय है। इसका प्रयोग 'अभूततद्भाव' अर्थ में होता है—अभूततद्भावे कृभ्वस्ति योगे सम्पद्यकर्तरि च्विः ॥ ५/४/५० ॥

जैसे अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते, तं करोति = शुक्ली करोति।
(शुक्ल + च्वि = शुक्ल् + ई + ० (७·४·३२)
= शुक्ली)

च्वि का चित्करण भी विशेषणार्थक है, क्योंकि च्वि प्रत्यय के परे अजन्त अंग के दीर्घ होने का विधान[९] तथा आकारान्त अंग के ईकारान्त होने का विधान[१०] प्राप्त होता है।

च्वि प्रत्यय असर्वविभक्तिक तद्धित प्रत्यय है, अतः च्विप्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं।[११]

उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट है कि क्विप् प्रभृति प्रत्यय स्वरूपतः शून्य हैं, किन्तु वे कत। अर्थ के द्योतक हैं और उनके इत् गुणनिषेध, वृद्धि, आगम, दीर्घीकरण आदि कार्यों के विधायक है। शब्दों के विश्लेषण और संश्लेपण की विधा में सर्वापहारी लोप वाले प्रत्ययों की कल्पना सर्वथा तर्क-संगत और महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ-संकेत

१. प्रत्ययः ॥ ३/१/१ ॥
   परश्च ॥ ३/१/२ ॥
२. तस्य लोपः ॥ ३/१/८ ॥
३. अदर्शनं लोपः ॥ १/१/६० ॥
४. चूंकि 'पाकः' एक पद है, इसलिए 'पास् अ' की स्थिति में ककार का गकार सम्भव नहीं। झलां जशोऽन्ते (८/२/३९) सूत्र पदान्त में लागू होता है।
५. प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः।
६. नविभक्तौ तुस्माः ॥ १/३/४ ॥ सूत्र हलन्त्यम् सूत्र का अपवाद है। अतः प्रग्रः कहा गया।
७. (क) सार्वधातुकार्धधातुकयोः ॥ ७/३/८४ ॥
   (ख) पुगन्तलघूपधस्य च ॥ ७/३/८६ ॥
८. चित्करणं सामान्यग्रहणमविधातार्थः
   वेरपृक्तस्य इति—काशिका ३/२/७३
९. च्वौ च ॥७/४/२६ ॥ अशुचिः शुचिः सम्पद्यते तं करोति शुचीकरोति।
१०. अस्य च्वौ ॥ ७/४/३२ ॥ शुक्ल + च्वि = शुक्ली
११. तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥ १/१/३८ ॥

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

मलयालम भाषा
और उसका साहित्य

डॉ० महेन्द्रनाथ दुबे

मलयालम भाषा

भारतीय गणराज्य के दक्षिण-पश्चिमी सीमान्त पर स्थित है इसका मनोरम प्रदेश केरल। यह एक ऐसा सौभाग्यशाली प्रदेश है जिसे पाक जलडमरूमध्य से हिन्दमहासागर और पश्चिमवर्ती तटीय छोर से अरब सागर दोनों अपनी जलबाँहों में घेरे हुए हैं। उत्तरी-पूर्वी सीमाओं पर सह्याद्रि की पहाड़ियों की शृङ्खलाएँ है जो इस प्रदेश को कर्नाटक और तमिलनाडु प्रदेश से पृथक् करती हैं। दक्षिण समुद्री सीमाओं के पार श्रीलंका देश है, तो पश्चिमी समुद्री सीमाओं के पार लक्ष्य द्वीप की भारतीय द्वीप शृङ्खला। भारतीय गणराज्य के मानचित्र में उत्तरी छोर पर जैसे कश्मीर स्थित है, उसी प्रकार दक्षिणी छोर पर केरल। प्राकृतिक सुषमा की दृष्टि से भी दोनो की प्रकृति में मधुर साम्य है। आज जहाँ भी भारतीय एकता की बात होती है, हम केरल से कश्मीर तक फैले महादेश की एकता की बात करते है।

केरल प्रदेश की प्राकृतिक संरचना के विषयों में पौराणिक आख्यानों एवं वैज्ञानिक विश्लेषणों में भी अद्भुत साम्य मिलता है। पौराणिक आख्यानों में कहा गया है कि पुराकाल में केरल का भूभाग उभरा हुआ नहीं था, अपितु समुद्र-जल से आवृत था। सर्वप्रथम भृगु ऋषि ने अपनी तपश्चर्या के लिए इस समुद्र-जलपूत प्रदेश को समुद्र-गर्भ से बाहर निकाला, इसी से इस प्रदेश को भृगु-क्षेत्र कहा जाता था। इसी कथा को थोड़ा-सा मोड़कर कहा जाता है कि भृगुवंशी भगवान् परशुराम ने अपनी तपश्चर्या हेतु समुद्र से भूभाग माँगा और जहाँ तक उन्होंने समुद्र में अपना फावड़ा फेंक दिया, वहाँ तक की भूमि समुद्र-गर्भ से ऊपर उभर आई। भृगुवंशी महर्षि द्वारा उद्भावित भूमि भृगुक्षेत्र कहलाई। यही इस प्रदेश का प्राचीनतम नाम है और वैज्ञानिक मानते हैं कि पृथ्वी की प्राकृतिक भौगोलिक अवस्थिति—संरचनात्मक (आन्तरिक एवं बाह्य) शक्तियों के चलते दक्षिण भारतीय सीमान्त का समुद्र पीछे हट गया और नया भू-भाग उभर आया। वही अंश आज यह प्रदेश है जिसे प्राचीन काल में भृगुक्षेत्र कहते थे और फिर केरल कहा जाने लगा था। वैसे यह केरल नाम भी कम प्राचीन नही है। लगता है कि ऋषियों की आरण्यकी संस्कृति-काल में यह तपोभूमि भृगुक्षेत्र ही कहा जाता रहा होगा, परन्तु जब नयी सभ्यता राजकीय शासन-प्रणाली का विस्तार हुआ, तब से यह केरलम् या केरल ही कहा जाता रहा। इस केरल संज्ञा की भी दो पृष्ठ-भूमियाँ बताई जाती हैं · (१) कुछ लोग मानते हैं कि केर वृक्षों से भरे होने के कारण इसका नाम केरल हो गया होगा। २ इतिहास विशेषज्ञों का कहना है कि पूर्वकाल में समस्त चोल

चालुक्य, कर्नाटक, पाण्ड्य, आन्ध्र और चेर वंशीय नृपतियों के शासन-संभागों में बँटा था। वर्तमान केरल प्रदेश तब चेर नृपतियों के शासनान्तर्गत होने के कारण चेरलम् कहा जाता रहा। उसी के ध्वन्यात्मक विकास का परिणाम केरल है। इस प्रकार केरल नाम पुराना तो है, परन्तु उसका व्यवहार बहुत दिनों से समाप्त हो चुका था। अँग्रेजी शासन के दौरान यह ट्रावणकोर-कोचीन प्रॉविन्स के नाम से जाना जाता था। भारतीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद यहाँ के शिक्षित समुदाय ने अपनी सांस्कृतिक निष्ठा को उजागर करते हुए अपने पुराने ऐतिहासिक नाम को ही ग्रहण करना उचित समझा और तदनुसार ही यह केरल नाम से भारतीय गणराज्य का एक विशिष्ट प्रदेश है। प्राचीन ऐतिहासिक सन्दर्भों में यहाँ के प्राचीनतम राजा भक्त प्रह्लाद के पुत्र महाबली कहे जाते हैं। उन्हीं के वंश में राजा चेरन हुए जिससे यह चेर राज्य और तदन्तर केरल कहलाया। परवर्ती काल मे यहाँ उत्तर भारत की आर्य जाति के लोग भी विभिन्न समूहों में आये जो अपनी शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक योग्यताओं के कारण क्रमशः प्रभावशाली होते गये। कभी-कभी उनका यहाँ के मूल नागवंशी शासकों से संघर्ष भी हुआ जिसके चलते जब विजयश्री उनके हाथ लगी, तो वे ही शासक बन बैठे और नागवंशी उनके अधीन हो गये। कालान्तर में समय ने फिर पल्टा खाया और सन् ईस्वी के आरम्भ के समय नागवंशी पुनः प्रबल हुए तथा इस वंश के उदयबाण वर्मन यहाँ के प्रथम सम्राट् घोषित हुए। तब से राज्य सुव्यस्थित हुआ और लगभग आठवीं शती तक इस वंश का राज्य चलता रहा। तदनन्तर राजशेखर चन्द्रवती यहाँ के शासक हुए। कहा जाता है कि जगद्गुरु शंकराचार्य का जन्म इन्हीं के शासन-काल में हुआ।

भाषा

मलयालम भाषा इसी केरल प्रदेश की भाषा है जिसे कुछ लोग कैरली जैसे प्रादेशिक नाम से भी पुकारते हैं। परन्तु इस भाषा के लिए सर्वाधिक प्रचलित नाम मलयालम ही है जिसके धात्वर्थ के सम्बन्ध में विचार है कि यहाँ मैल का अर्थ है पर्वत जिसमें सम्बन्धवाची प्रत्यय जोड़कर पर्वतीय प्रदेश के अर्थ में मलयालम शब्द बना जो बाद में इस प्रदेश की भाषा के लिए भी व्यवहृत हुआ। एक दूसरी निष्पत्ति यह है कि 'मलै' पर्वतवाची है और 'आलम' समुद्रवाची, अतः समुद्र और पर्वत के मध्य स्थित प्रदेश और उसकी भाषा मलयालम कहलायी। कुछ लोगों का अनुमान है कि मूलतः मलयालम शब्द प्रदेशवाची ही है। यहाँ भी आरम्भ में तमिल भाषा ही बोली जाती थी, स्थानीय शैलीगत वैशिष्ट्य के कारण उसे मलयालम तमिल कहा जाता था जो संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति के कारण अन्ततः मलयालम रह गया।

भाषिक विकास

मलयालम भाषा के विकास की शृंखला की कड़ियाँ बहुत स्पष्ट नहीं हैं। इसका मुख्य कारण है कि अपनी संस्कृतनिष्ठ प्रवृत्ति के कारण यह निकटवर्ती तमिल भाषा से प्रसूत है, अर्थात् उसकी पुत्री है। इस भिन्नता के मूल कारण को बताने का आधार नहीं होता और जो इसे तमिल-तेलगु की भाँति ही, मूल द्राविड़ी से उनकी सहायता (बहन) के रूप में एक ही साथ विकसित सिद्ध करना चाहते हैं, उनके समक्ष परेशानी है कि इस भाषा के उतने प्राचीन नमूने मिलते ही नही। इस क्षेत्र में जो प्राचीन शिलालेखादि मिलते हैं—नवीं शती तक—वे सब प्रायः तमिल में ही है। ऊपर से तब ऐसा ऐसा लगता है कि इसके तमिल-गोत्रजा होने की अधिक संभावना है यानी पहले यहाँ तमिल ही बोली जाती थी जो बाद में विकसित होकर मलयालय हो गयी होगी, जैसे प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाय परन्तु गुत्थी इतनी आसान नहीं है क्योंकि

उसी तमिल म इसके ठीक बगल मे तमिलनाडु म जब आधुनिक तमिल विकसित हुई तो यहाँ आधुनिक तमिल न होकर मलयालम कैसे हो जायेगी। अतः डा० गुण्डट के अनुसार न तो इसे एक भाषा की दो शाखायें माना जा सकता है, न राजवर्मा, ए० चन्द्रशेखर, डॉ० कुञ्जुणि के अनुसार तमिल-प्रसूत उसका विकसित रूप ही। इन सबके ऊपर एक अतिवादी मत यह भी है कि यह तमिल से भी पहले मूल द्राविड़ी से विकसित हुई, पर यह तो हास्यास्पद ही है। मूल द्राविड़ी से अन्य वर्तमान द्राविड़ी भाषाओं की तरह एक स्वतन्त्र शाखा के रूप मे इसका विकास उल्लूट, आदूर कृष्ण, अच्युत मेनन आदि मानते हैं। इस मत को इस संशोधन के साथ माना जा सकता है कि मूल द्राविड़ी से निस्सृत यह शाखा अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को विकसित करते हुए भी तमिल के विकास-क्रम से बहुत अधिक जुड़ी रही है, इसने यहाँ की स्थानीय आदिवासी प्रवृत्तियों का ग्रहण तो तमिल से सर्वथा भिन्न रूप में किया ही, आर्यभाषा संस्कृत से इतना निकट संपर्क स्थापित किया कि इसके सस्कृत-गोल्नजा होने तक का भ्रम होता है, जबकि तमिल मे संस्कृत प्रभावो से वर्जना की प्रवृत्ति रही है।

फलतः मलयालम सुदूर दक्षिण की प्रवृत्तियों को विकसित करती हुई उत्तर भारतीय भाषिक प्रवृत्तियों को भी अनुकूल सन्दर्भों में ग्रहण करने वाली स्थानीय बोलीगत वैशिष्ट्यो से समन्वित भाषा है जो वर्तमान केरल प्रदेश में तो बोली ही जाती है।

भारतीय राष्ट्रीय सेवाओं एवं व्यापार के चलते भारत के कई बड़े महानगरों एवं वैदेशिक सेवाओ या व्यापार में संलग्न हो मध्य एशिया के अनेक देशों मे भी मलयालम भाषा-भाषी बडी संख्या में पाये जाते हैं। सम्प्रति मलयालम भाषा-भाषियों की संख्या लगभग २५०,००,००० (ढाई करोड़) है।

बोलियाँ

यद्यपि मलयालम भाषा-भाषी क्षेत्र क्षेत्रफल में मध्य प्रदेश के बस्तर जिले जितना ही बड़ा है। फलतः इस सीमित क्षेत्र में भाषा की एक इकाई का समान रूप से व्यवहृत होना ही ठीक है, परन्तु शृङ्खलाओ एवं जलद्वीपीय स्थितियों के कारण तथा समाज-वैज्ञानिक प्रवृत्तियो के कारण इसमे भी कई बोलीगत भेद हैं। इनमें कुर्ग क्षेत्र में प्रचलित येख बोली मुख्य है। मलाबार तट की मलाबारी भी अलग बोली है। इस क्षेत्र के मोपला जातीय मुसलमान इस भाषा की संस्कृत शब्दावली के व्यवहार से परहेज करते है, फलतः उनकी बोली भी मूल मलयालम से भिन्न प्रकार की हो गई है। जातीय कोटि की बोलियों में से एषवास बोली का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन डॉ० बी० सुब्रह्मण्यम् के निर्देशन में पूर्ण हुआ है। कुञ्जुणि राजा ने नय्यर बोली का अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1] श्री शंकरन् एवं शेखर ने दक्षिणी सीमान्तीय बोलियों का विश्लेषण किया है।[2] डॉ० सुब्रह्मण्यम् ने नाजनाडु[3] क्षेत्र का एवं केशव पणिक्कर ने एरनाडु[4] क्षेत्र की बोलियो का अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण एवं बोली-वैज्ञानिक अध्ययन के कई कार्य विश्वविद्यालयीय एवं प्रादेशिक शासकीय कई संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है। भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्रति एकान्त-निष्ठा के कारण ही भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त सीमित होने पर भी मलयालम भाषा और साहित्य इतना समृद्ध हो सका है।

---

१. के० के० राजा—स्केच ऑफ नय्यर डायलेक्ट।
२. सी० आर० शंकरन् एण्ड ए० सी० शेखर—दि डायलेक्ट ऑफ एक्सट्रीम साउथ ऑफ केरला।
३ सुब्रह्मण्यम् बी०—डायलेक्ट ऑफ नाजनाड।
४ केशव पणिक्कर रिसेंसन आफ एरनाड डायलेक्ट आफ

मलयालम लिपि

मलयालम भाषा की अपनी स्वतन्त्र लिपि है जो इसके समस्त वर्णों को लिखने में समर्थ है। इस दृष्टि से इसकी लिपि तमिल से समृद्ध है। इसकी वर्णमाला देवनागरी लिपि की वर्णमाला के अनुरूप ही है और वर्ण (ध्वनियाँ) संस्कृतानुसार हैं। स्वरों में इलो (लृ), ईलो (लॄ) वर्ण हैं तो, किन्तु अब इनका प्रयोग नहीं होता। ए और ओ के लघु रूप भी हैं जो हिन्दी से विशिष्ट वर्ण एवं उनके लिपि-चिह्न हैं जो द्रविड़ परिवार की विशिष्ट ध्वनियों को व्यंजित करते हैं। शब्द के अन्त मे प्रयुक्त होने की स्थिति में न्, ब, य, क् ल् र्, ण् के भी विशिष्ट चिह्न हैं। इस लिपि के चिह्नों मे भी वर्तुलाकारता अधिक है जो द्रविड भाषाओं की सामान्य विशेषता है और जो उनमें प्राचीन वट्टषत्तु लिपि से आई है। परन्तु अधिकांश वर्ण-चिह्नों का विकास मध्यकालीन ग्रन्थ-लिपि से होते हुए प्राचीन अशोकन ब्राह्मी लिपि से ही हुआ है। इस प्रकार समन्वयात्मक रूप के कारण मलयालम-लिपि संस्कृत एवं तमिल दोनों ही प्रकार की भाषाओ को पूरी तरह लिखने मे सक्षम है।

मलयालम की भाषिक विशिष्टताएँ

(१) मलयालम भाषा में शब्दों के अन्त्य की स्थिति में प्रायः ठकार की प्रवृत्ति है—तुच्छन्तु, वहु।

(२) अधिकांश तद्भव शब्दों मे अनुनासिकता है।

(३) मलयालम भाषा के निजी शब्द वर्ग तो है ही, सामान्यतः द्रविड़ भाषाओं से गृहीत शब्दों को भी सामान्य आन्यान्तरिक कोटि में रखते हैं। देशज शब्दों की शृङ्खला भी इसी के अन्तर्गत गिनी जाती है। बाह्य वर्ग मे मुख्यतः संस्कृत से आगत शब्दावली है जो तत्सम, तत्समाभास और तद्भव जैसी विभिन्न कोटियों की है। तत्सम शब्दों की इतनी प्रचुरता है कि उनका प्रतिशत ८०% के लगभग है। कुछ संस्कृत शब्द, शब्द के स्तर पर, तो ज्यों-के-त्यों है, परन्तु उनके स्थानीय अर्थ बदल गए हैं; जैसे—कल्याण-विवाह, उद्योग-नौकरी, भावना-कल्पना, परिवार-नौकर-चाकर, पशु-गाय आदि।

(४) मलयालम में संस्कृत की भाँति तीन लिंग है, परन्तु उनका लिङ्ग-निर्णय अर्थानुसारी है। सचेतन पुरुष अर्थ में पुल्लिग, सचेतन नारी अर्थ में स्त्रीलिंग। शेष समस्त शब्द नपुंसकलिंग है। क्रिया के रूपो मे लिंग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न तो लिंग के कारण सम्बन्धवाचक प्रत्ययों के रूप में ही कोई परिवर्तन होता है। विशेषण पदो म भी लिंगानुसारी परिवर्तन नहीं होता है। अतः वाक्य की संरचना में लिंग का विशेष प्रभाव नहीं है।

(५) सर्वनाम पदो में उत्तम पुरुष सर्वनाम रूपों में लिंग-भेद नहीं होता, किन्तु मध्यम एवं अन्य पुरुष सर्वनाम रूपों मे लिंग-भेद होता है।

(६) मलयालम की विभक्ति-व्यवस्था विशिष्ट है। कुछ अर्थों में संस्कृत से भी विशिष्ट। जैसा कि केरल पाणिनीयम् में ए० आर० राजराज वर्मा ने संकेतित किया है—(i) संस्कृत के विभक्तिरूप के कई अर्थ होते हैं, जबकि मलयालम में अर्थ-परिवर्तन के अनुरूप विभक्ति-रूपों मे भी परिवर्तन होते हैं। (ii) संस्कृत में विभक्ति-रूप प्रत्यय योग से बनते है, जबकि मलयालम मे प्रत्यय, अव्यय, समास और गतिसूचक शब्दों, सभी के योग से विभक्ति-रूप आवश्यकतानुसार बना लिये जाते हैं।

इस प्रकार मलयालम विभक्तियों की कतिपय उल्लेखनीय विशिष्टतायें है—

(क) प्रथमा विभक्ति (प्रतिग्राहिका) कर्मकारक का प्रत्यय -ना है। परन्तु यह केवल प्राणिवाचक शब्दों के साथ लगता है

(ख) अप्राणिवाचक के साथ नहीं। वैसे छोटे प्राणियों के वाचक शब्दों के साथ भी प्रत्यय लगाने की अनिवार्यता नहीं है।

(ग) तृतीया विभक्ति (संयोजिका) करण कारक, जिसे मलयालम में साक्षी कहते हैं, के लिए —'ओटु' प्रयोग प्रयुक्त होता है। वैसे इसके स्थान पर अन्य कुछ निपात शब्द भी प्रयुक्त होते है। हिन्दी में इसके चिह्न रूप में प्रयुक्त 'से' अपादान में भी आने के कारण कुछ भ्रमकारक होता है, मलयालम में ऐसी अस्पष्टता नहीं है।

(घ) चतुर्थी विभक्ति (उद्देशिका) जिसे सम्प्रदान कारक में रखते है, उसे मलयालम में स्वामी कहते है। इसका प्रत्यय है—'क्कु' जो कहीं-कहीं मात्र 'उ' रह जाता है।

(ङ) पंचमी (प्रयोजिका) विभक्ति जो संस्कृत में अपादान कारक की सूचक है, इसका मलयालम प्रत्यय है—'आल'। प्रयोजिका का अर्थ करण और कारण दोनों माना गया है।

(च) षष्ठी (संबन्धिका) विभक्ति संस्कृत में है, परन्तु वह कारकों में नहीं है। वह सामान्य सम्बन्ध प्रकट करने से लिए प्रयुक्त की जाती है। मलयालम में इसका अर्थ स्वामित्व से है। इसमें शब्द के अनुसार दो भिन्न प्रत्यय लगते हैं—(१) उटे, (२) न्टे। मलयालम में हिन्दी कारक चिह्नों—का, की, के की तरह की कठिनाई नहीं है। रूप सर्वत्र समान होते हैं।

(छ) सप्तमी (आधारिया) विभक्ति का कारक है अधिकरण। मलयालम में इसके दो प्रत्यय है—(१) इल, (२) कक।

इस प्रकार की विशिष्टताओं से समन्वित मलयालम भाषा भारतीय भाषाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। सुदूर दक्षिण में स्थित रहकर भी यह दक्षिण के साथ-साथ उत्तर भारतीय भाषाओं की विशिष्टताओं से भी संयुक्त रही है। अब भी इसमें रस-ग्राहिणी प्रवृत्ति है। इसी से अँग्रेजी शासन-काल में इस भाषा ने अँग्रेजी के साथ-साथ फ्रेंच, पुर्तगीज की भी विशिष्ट प्रवृत्तियों को अपनाया। स्वतन्त्र भारत में हिन्दी भाषा और साहित्य से निरन्तर निकट सम्बन्ध बनाये रखने की चेष्टा मलयालम भाषा-भाषी करते रहे है। यही कारण है कि भाषायी सम्बन्धों में यहाँ कटुता नजर नहीं आती।

मलयालम-साहित्य

मलयालम भाषा की प्राचीनता को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ता है कि मलयालम भाषा का साहित्य अधिक पुराना नहीं है। विविध स्रोतों से जो प्राचीन आधार उपलब्ध होते है, वे प्रायः तमिल में है। यदि तमिल से मलयालम का विकास स्वीकार न किया जाय, तो मलयालम क्षेत्र के प्राचीन साहित्यकारों द्वारा तमिल में लिखने की प्रवृत्ति भर माननी होगी। तमिल से भिन्न शुद्ध मलयालम की जो आरम्भिक कृतियाँ मानी जाती हैं, उनका निर्णय प्रायः इसी तथ्य से होता है कि वे तमिल से कितनी भिन्न या स्वतंत्र हैं। तमिल से उनकी भिन्नता बदले में उन्हें संस्कृत के करीब ले जाती है। कहा जाता है कि उत्तर भारतीय आर्य-ब्राह्मणों का केरल में आगमन बहुत प्राचीन काल से ही होता रहा है। ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी तक आते-आते यहाँ आकर बसे आर्यवंशी नंपूतिरि ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित हो चुका था। उनके प्रभाव से संस्कृत भाषा और उनका साहित्य केरल के जनजीवन में रच-बस गया था। तमिल दबाव से मुक्त काव्य-रचना मलयालम में करने से संस्कृत की शब्दावली का योग सचमुच ही बड़ा सहारा हुआ। संस्कृत भाषा के सरल शब्दों का प्रयोग कर जो काव्य रचना आरम्भ हुई उस मणिप्रवालम् कहा गया भाषा

संस्कृतयोगो मणिप्रवालम् कालान्तर में मलयालम साहित्य में शताब्दियों तक इस प्रकार की शैली में रचनाएँ होती रहीं जिनमें मलयालम माणिक्य में संस्कृत का विद्रुम जड़ा हुआ था।

मणिप्रवालम् शैली के ठीक विपरीत वह शैली थी जो तमिल प्रभावित थी। मलयालम साहित्य में ज्वार-भाटे की तरह कभी एक शैली और कभी दूसरी प्रमुखता पाती रही है। फलतः स्पष्ट कालखण्डों के रूप में उन्हें विभाजित नहीं किया जा सकता। तीसरी शैली है पक्की या खाँटी मलयालम की। परन्तु इस शैली की साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट अधिक प्राचीन कृतियाँ नहीं मिलती। खाँटी मलयालम की जो रचनायें मिलती है, वे मुख्यतः लोकगीतपरक है जिन्हें पाट्टु कहते है। ये पाट्टु गीत विभिन्न समयों पर, विभिन्न स्थानों पर, विभिन्न रचयिताओं द्वारा लिखे गए या गाए गए। इनके मूल रचयिताओं का पता नहीं है। ये गीत जीवन के विविध पक्षो से सम्बद्ध है जिनमें कृषि से सम्बन्धित कृषि-पाट्टु, सर्पाराधना से सम्बन्धित सर्पम् पाट्टु, काली या विभिन्न अवतारी देवताओ से संबद्ध भद्रकाली पाट्टु, तोररम् पाट्टु, नौकाचालन से संबद्ध वल्ल पाट्टु आदि प्रमुख हैं। 'लीला-तिलकम्' की मान्यता के अनुसार पाट्टु उसे कहते है—''द्रमिडसंघाताक्षर निबद्ध मेतुका मोनावृत्त विशेषबद्ध पाट्टु'—जिसमें द्रविड़ शब्दावली का बाहुल्य हो।

इस प्रकार मलयालम साहित्य की विकास-रेखायें बहुत स्पष्ट नहीं हैं, फिर भी इसका इतिहास लिखने वाले किसी मोहवश इसका आरम्भ सातवीं शती से ही दिखाते है। इस तरह उनका ऐतिहासिक वर्गीकरण—आदिकाल— ७वीं से १६वीं शती तक

मध्यकाल—१७वीं से १८वी शती के मध्य तक

आधुनिक काल—१८५० के पश्चात्—अब तक रूप में मिलता है। परन्तु तथ्यतः इसका आदिकाल १३वीं शती के पहले से आरम्भ हुआ नहीं प्रतीत होता। इसके पूर्व के जिन लोकगीतों आदि का संग्रह और प्रकाशन हो रहा है, मूल रूप में प्राचीन न होते हुए भी उनकी भाषा उक्ति-परम्परा में पलते-पलते पर्याप्त परवर्ती हो चुकी है। फलतः मलयालम साहित्य का काल-विभाजन निम्नलिखित भाँति ही उचित है—

आदिकाल—१२५० (तेरहवीं शती) से १५५० (सोलहवी शती)
मध्यकाल—१५५० (सोलहवी शती) से १८५० (उन्नीसवी शती)
आधुनिक काल—१८५० के अनन्तर

आदिकालीन मलयालम साहित्य की प्रथम कृति कौन-सी है, इसके विषय में विवाद है। कुछ इतिहासविद् 'रामचरितम्' को आरम्भिक कृति मानते हैं तो कुछ 'उण्णियच्ची चरितम्' अथवा 'उण्णिनीलि संदेशम्' को। सामान्यतः अब माना जाने लगा है कि 'रामचरितम् और उण्णियच्ची-चरितम्' दोनों ही तेरहवीं शती की रचनाएँ हैं और ये ही इस भाषा की उपलब्ध प्राचीनतम कृतियाँ हैं।

रामचरितम् को केरलवासी की तमिल रचना मानने की भी प्रवृत्ति अधिक दिनों तक रही, परन्तु इस ग्रन्थ मे संस्कृत के तत्सम एव तद्भव शब्दों की बहुलता देखते हुए इसे मणिप्रवाल शैली की मलयालम रचना मानना ही समीचीन है। लगभग इसी समय अथवा इसके कुछ ही समय बाद रचे गए मलयालम के संस्कृत-निबद्ध सूत्रग्रन्थ 'लीलातिलकम्' में दी गई व्यवस्थाओं के अनुरूप भी यह मणिप्रवाल शैली का ही काव्य ठहरता है।

उण्णियच्चो चरितम् मलयालम चम्पू काव्य है। इसके रचयिता है श्री कुमान्। इसमें तिरु-मरुतूर मन्दिर की देवदासी उण्णियच्ची के सौन्दर्य का वर्णन है जिसका दर्शन करने स्वर्ग से गन्धर्व आता है।

मलयालम साहित्य की यह एक विशिष्टता दिखाई देती है कि इसकी आदिकालीन रचनाओं में चरितकाव्यों, विशेषतः विलासवती सुन्दरियों के जीवनचरित एवं उनकी सौन्दर्य-राशि की महिमा बखानने वाले काव्य अधिक रचे गए दिखाई पड़ते हैं। इन रचनाओं में कुछ ऐसी भी हैं जो वेश्या-जीवन तक पर प्रकाश डालती है।

वैशिकतन्त्रम्—इसमें अपनी सद्यः यौवन-प्राप्त पुत्री को उसकी अनुभवी माँ वेश्यावृत्ति की शिक्षा देते हुए, उसे यौवन अवधि-काल में ही अधिकाधिक धन-संग्रह करने के साथ-साथ सौन्दर्य को बनाये रखने के उपाय बताती है। इस प्रकार की विभिन्न कृतियों मे भारलेखा, मल्लिनिलाव, उत्तराचन्द्रिका, कौणोत्तरा, इलियच्चि, चेरियच्चि जैसी विलासिनी युवतियों के चरित्र बखाने गए हैं जिनके सौन्दर्य की महिमा से स्वर्ग के गन्धर्व भी खिचे चले आते हैं।

चन्द्रोत्सवम् नामक रचना में मेदिनीवेण्णिलाव नामक वेश्या द्वारा मनाये गये चन्द्रोत्सव का वर्णन है जिसमें उसने ऐसी सुगन्धित बत्तियाँ जला रखी है जिनकी सुगन्ध स्वर्ग को भी उद्वेलित कर देती है और गन्धर्व अपनी प्रेयसी का त्याग कर पृथ्वी-स्थित केरल भूमि पर उतर आता है।

भक्तिपरक एवं चरिताख्यानपरक रचनाओं के अतिरिक्त मलयालम साहित्य के आदिकाल में **सन्देश-काव्यों** की भी विशालता मिलती है जिनमें '**उण्णुनीली संदेशम्**' विशेष उल्लेखनीय है। इस कृति के रचयिता और रचनाकाल पर यद्यपि मतभेद है, परन्तु श्री उल्लुर का मत है कि यह रचना चौदहवीं शती की है और इसके रचयिता वटक्कुमकूर प्रदेश के राजा मणिकंठ हैं। उन्होंने अपनी पुत्री उण्णनीलि को ही इसकी नायिका बनाया है। इस संदेश-काव्य में यक्षिणी प्रेमी-युगल की सुप्तावस्था में नायक को उठा ले जाती है। नरसिंह मंत्र के जाप से वह यक्षिणी से तो मुक्त होता है, किन्तु तब तक उसे वह बहुत दूर ले जा चुकी होती है। फिर विरही नायक अपने एक मित्र के हाथों प्रिया को सन्देश भेजता है जिसमें विरह-निवेदन के साथ-साथ अपने स्थान से प्रिया के स्थान तक त्रिवेन्द्रम् से कडुत्तुरत्ति तक की प्रकृति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण करता है। इस प्रकार मलयालम मणिप्रवाल शैली की यह कृति सहज ही कालिदासकृत मेघदूतम् की याद दिला जाती है।

काव्य-रचनाओं के अतिरिक्त इस काल की मलयालम में संस्कृत के जिन काव्य-सिद्धान्त ग्रन्थों अथवा काव्येतर ग्रन्थों का अनुवाद था, उनके आधार पर अन्य ग्रन्थ रचे गये। उनमें उस समय के मलयालम गद्य का भी नमूना मिलता है। चाणक्य (कौटिल्य) कृत कौटिल्य अर्थशास्त्र का ऐसा ही एक अनुवाद **भाषाकौटिल्यम्** नाम से मिलता है जिसमें मलयालम गद्य का प्राचीनतम रूप दिखाई पड़ता है। इसमें तमिल प्रभावों से मुक्त हो मलयालम की ओर अग्रसरित संक्रमणकालीनता दिखाई देती है। इस कृति का एक अन्य रूप में भी महत्व है कि आधुनिक समस्त भारतीय भाषाओं में कौटिल्य अर्थशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीन अनुवाद मलयालम की इस कृति में ही उपलब्ध है।

इस कृति के अतिरिक्त मलयालम में संस्कृत नाटकों के प्राचीन रंगमंचीय स्वरूप—**कुटियाट्टम** को समझाने वाले ग्रन्थों की एक परम्परा ही है जिसे **आट्टप्रकारम्** कहते हैं। ये ग्रन्थ नवीं से पन्द्रहवीं शती तक विभिन्न समयों में रचे गए माने जाते हैं। इनमें भी मलयालम गद्य के प्राचीन रूप मिलते हैं। इनमें संस्कृत और तमिल शब्दों का भी मिश्रण दिखाई देता है। **दूतवाक्यम् गद्यम्** एक अन्य प्राचीन गद्यकृति है जिसमें संस्कृत कृति का मलयालम में रूपान्तर किया गया है। इनके अतिरिक्त **उत्तररामायण गद्यम्, भाषा भागवतम्** आदि में भी आदिकालीन मलयालम गद्य की झाँकियाँ दिखाई देती हैं। अन्य आधुनिक भाषाओं की अपेक्षा मलयालम में इसके आरम्भ में ही गद्य रूप की रचना का प्रधान कारण यहाँ के मन्दिरों के प्रांगणों में धार्मिक कृतियों के नाटकीय मञ्चन एवं धार्मिक कथाओं के **पाठकम्**—पाठ करने और उसे साधारण जनता को समझाने—की परम्परा है सामान्य जनता

को समझने के लिए गद्य का आश्रय अनिवार्य है और इसी रूप से मलयालम गद्य का प्राथमिक विकास हुआ ।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने की है, वह यह है कि मलयालम के प्राचीन गद्य को **तमिल** कहते हैं । यहाँ तमिल शब्द भाषा का वाचक नहीं है, अपितु मलयालम की प्रवृत्ति का वाचक है । यद्यपि इस मलयालम गद्य में तमिल भाषा के शब्दों का प्रचुर प्रयोग है, परन्तु इस कारण इसका तमिल नामकरण संभव नहीं है, क्योंकि इनमें तमिल को अपेक्षा संस्कृत शब्दावली का प्रतिशत ही अधिक है । **लीलातिलकम्** जैसा शास्त्रीय ग्रन्थ, जिसमें काव्य की विभिन्न शैलियों, भाषिक रूपों आदि का विशद वर्णन है, भी संस्कृत शब्दावलीबहुल है । फलत: आरम्भिक मलयालम गद्य को **तमिल** कहना उसका एक शैलीगत नाम है, कोई भाषासूचक प्रवृत्ति नहीं । मन्दिरों की पाठकम् व्यवस्था, संस्कृत शास्त्रीय एवं धार्मिक ग्रन्थों को व्याख्यासहित समझाने की प्रवृत्ति एवं मलयालम की नाट्याभिनय की स्थानीय प्रवृत्ति आदि ने मिलकर यहाँ गद्य के आरम्भिक विकास में योग दिया है । पेरूमाल शासन के समय से ही अभिनय की तीन विशिष्ट प्रणलिग्राँ यहाँ विकसित हो चुकी थीं—(१) **शस्त्र काल्लि**, (२) **चाक्यार कुत्त्** और (३) **कुट्टियाट्टम** । इसके अतिरिक्त तमिलभाषी क्षेत्र के प्रभाव से **पावकुत्त्** (गुड़ियों का खेल) की शैली भी आ गई थी । इन सबके कारण मलयालम गद्य शीघ्र ही विकसित होकर प्रौढ़ता को प्राप्त कर गया । आगे चलकर **मणिप्रवालम्** का जो महान् साहित्य सृजित हुआ, उसके विकास में भी इन सबका योगदान महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ होगा ।

मलयालम साहित्य के विकास के अगले चरण को अग्रगति देने का श्रेय इसके निरणम् कवियों को है । केरल के **आलप्पुषा** नामक जिले में एक गाँव है **निरणम्** जो पंपा नदी के तट पर स्थित है । इस गाँव के तीन प्रतिष्ठित साहित्यकार हुए—माधव पणिक्कर, शंकर पणिक्कर और राम पणिक्कर । कण्णश्श नाम के एक विद्वान् आचार्य के शिष्य होने के कारण इन्हें **कण्णश्श कवि** भी कहा जाता है । इन निरणम् कवियों का काल १३५०-१४५० तक माना जाता है ।

राम पणिक्कर ने अपनी रचनाओं में सबके बारे में विस्तृत विवरण दिया है जिससे ज्ञात होता है कि एक गाँव के निवासी होने के अतिरिक्त इनका एक पारिवारिक सम्बन्ध भी था । इस परम्परा के आदिकवि थे कठणेश, उनके दो पुत्र थे—माधव और शंकर तथा तीन पुत्रियाँ थीं; जिनमें सबसे छोटी के पुत्र थे राम पणिक्कर । इस प्रकार इनमें मामा-भानजा का सम्बन्ध था ।

बड़े मातुल **माधव पणिक्कर** ने **भाषा भगवद्गीता** नाम से मूल भगवद्गीता के सात सौ श्लोकों को ३२४ मलयालम पद्यों में अनूदित किया है । आधुनिक भारतीयों भाषाओं में भगवद्गीता का यह पहला अनुवाद है । **शंकर पणिक्कर** ने **भारतमाला** नामक कृति रची जिसमें भागवद् दशम् स्कन्ध की कथा के साथ-साथ महाभारत की कथा भी संक्षेप में प्रस्तुत की गई है । **पांचाली-विलाप** नामक प्रकरण में भक्त हृदय की अत्यन्त भावुक, मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना हुई है । **राम पणिक्कर** ने **कण्णश्श रामायणम्, भागवतम् शिवरात्रि माहात्म्यम्, भारतम्** आदि कृतियों की रचना की । इन रचनाओं के अतिरिक्त निरणम् कवियों द्वारा **श्री रामस्तोत्र, तृकपालीश्वर स्तोत्र, तिरुक्कोपायालण्णल स्तोत्र** आदि भी रचे गए बताए जाते हैं जो केरल के भक्तों में घर-घर में प्रचलित हुए । इन निरणम् कवियों की कृतियों ने मलयालम साहित्य को पुष्ट आधार दिया । परवर्ती मलयालम साहित्य के अनेक श्रेष्ठ रचयिताओं ने इनसे प्रेरणा ग्रहण की ।

निरणम् कवियों के अनन्तर मलयालम साहित्य में दक्षिण केरल के आवाडतुरा ग्राम में जन्मे **अय्यिप्पिल्ल आशान** कवि का विशेष महत्त्व है । इन्होंने तमिल-मिश्रित दक्षिणी मलयालम भाषा में गीतों की रचना की । इनकी प्रसिद्ध गीति-रचना है—**रामकथापाट्टु** । बोलचाल की मलयालम में